कठ उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

उपनिषद्-रहस्य की तीसरी पुस्तक कठोपनिषद्-टीका है। यह उपनिषद् यजुर्वेदीय कठ शाखान्तर्गत कठ ऋषि प्रणीत है। शाखा इस समय अप्राप्य है। केवल उस का यह अंश, जिसका नाम कठोपनिषद् है, पृथक् हो जाने के कारण प्राप्य है। यह उपनिषद् भाषा, भाव और शिक्षा सभी दृष्टियों से अत्यन्त श्रेष्ठ और मनोरंजक है। टीका को भी अच्छा बनाने का पूरा पूरा यत्न किया गया है। जिन स्थलों को स्पष्ट करने की जरूरत थी, ऐसे सभी स्थल टीका में भली भांति खोले गए हैं। और भी अनेक उपयोगी बातों का टीका में समावेश किया गया है जिनसे उपनिषद् का आशय अच्छी तरह समझा जा सके। अनेक सज्जनों और ब्रह्मविद्या के प्रेमियों ने पत्रों द्वारा तथा मौखिक भी आग्रह किया कि ईश और केन के बाद के उपनिषद् भी शीघ्र प्रकाशित किए जावें, परन्तु दुर्भाग्य से अनेक कार्य, जो पहले ही से मुझसे समय रूप कर लिया करते हैं, उनमें अस्वस्थता की एक संख्या और बढ़ गई और वह थोड़े टैक्स से सन्तुष्ट भी नहीं हुई। इन टैक्सों को चुकाने के बाद जो थोड़ा सा समय बचा, उसी में इस टीका को पूरा किया गया है। इसीलिए शीघ्रता न कर सकने के लिए मैं प्रायः विवश ही था। इस बात को दृष्टि में रखकर ऐसे सभी सज्जन, विश्वास है कि मुझे क्षमा करेंगे। इन्हीं थोड़े से शब्दों के साथ रहस्य का यह तीसरा अंक पाठकों को भेंट किया जाता है।

—नारायण स्वामी

बलिदान भवन, देहली
पोष बदि तृतीया
सं० १९९१

॥ ओ३म् ॥

कठोपनिषद्

प्रथमा वल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

अर्थ–(ह, वै) कहते हैं (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र (उशन) ने फल की कामना से (सर्ववेदसम्) सब कुछ (ददौ) दान किया (तस्य) उस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता, नाम पुत्रः, आस) नचिकेता नाम वाला पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु।
नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

अर्थ–(कुमारम्, सन्तम् ह) कुमार होने पर भी (तं) उसको (दक्षिणासु) दान किए हुए पदार्थों के (नीयमानासु) विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिक बुद्धि (हाविवेश) उत्पन्न हुई, (सः, अमन्यत) वह सोचने लगा ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

अर्थ–(पीतोदकाः) जो (गौएं) जल पी चुकी हैं, (जग्ध तृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं, (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका है, (निरिन्द्रयाः) बच्चा पैदा करने में असमर्थ हो चुकी हैं (ताः) उन्हें (ददत्) जो दान करता है (सः) वह (अनन्दाः नाम ते लोकाः) आनन्द रहित जो लोक हैं (तान्) उनको (गच्छति) जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यह उपनिषद् एक आख्यायिका के रूप में है—वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता था। उसने यम नामक एक विद्वान् व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त की, जिस (शिक्षा) का नाम कठोपनिषद् है। कोई-कोई व्यक्ति वाजश्रवा का अर्थ प्राण❖ करके नचिकेता जीवात्मा☹ को ठहराते हैं और इस प्रकार जीवात्मा को प्राण का पुत्र बतलाकर कहते हैं कि उसने यम✽ (मृत्यु) से शिक्षा उपलब्ध की थी परन्तु यह अलंकार बहुत उपयुक्त नहीं है। इसलिए हमने उपनिषद् को एक सरल आख्यायिका समझते हुए ही उसकी टीका की है। जब वाजश्रवा ने सर्वमेध यज्ञ किया अर्थात् जो कुछ उसके पास था सब दान करने लगा, तब स्पष्ट है कि सब चीजें अच्छी नहीं हो सकती थीं। इसलिए उनमें कुछ चीजें निकम्मी भी थीं, जैसे बिना दूध देने या ना दे सकने वाली गाएं। जब वाजश्रवा ने इन (निकम्मी गायों) का भी दान किया तब उसका पुत्र नचिकेता आस्तिक बुद्धि से प्रेरित होकर सोचने लगा कि जो दानी ऐसी (निकम्मी) वस्तुओं का दान करते हैं वे आनन्द रहित लोकों को प्राप्त होते हैं। भाव इसका यह है कि ऐसा दान, दान नहीं किन्तु कुदान है, जिससे उसका कुछ उपकार नहीं हो सकता अपितु उस पर यह भार रूप होता है ।। १, २, ३ ।।

❖ निघण्टु अ० २ ख० ७, १० में वाज अन्न और श्रवः धन का नाम बतलाया गया है। स्पष्ट है कि अन्नवान् और धनवान् जो गृहस्थ हों उनका नाम वाजश्रवा उचित रीति से हो सकता है। जो लोग इसका अर्थ प्राण करते हैं वे कहते हैं कि अन्न (अन्नमयकोष) ही जिसका धन है वह प्राण है इसलिए वाजश्रवा प्राणवाचक हुआ।

☹ "न चिकेतते विचेष्टत इति नचिकेताः।" अर्थात् जो स्वभाव ही से पुण्य पाप (सुख-दुःख) के प्रपञ्च से पृथक् हो वह नचिकेता है। नचिकेता जीव होने से प्राण का पुत्र है, यह कल्पना असंगत है। जीव-नित्य और प्राण अनित्य होने से पुत्र पिता से पहले हो जाता है।

✽ यम के कई नाम उपनिषद् में लिये गए हैं। उसे मृत्यु, अन्तक, वैवस्त आदि कहा गया है।

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

अर्थ–(सः, ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला–(तत्) हे तात् ! (माम्) मुझको (कस्मै) किसे (दास्यसि) देंगे ? (द्वितीयम्) दुबारा (तृतीयम्) तिबारा कहने पर पिता ने क्रुद्ध होकर (तम्) उससे (उवाच) कहा कि (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (त्वा) तुझे (ददामि इति) देता हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या–नचिकेता ने सब कुछ देते हुए देखकर अपने सम्बन्ध में पूछा कि मैं किसे दिया जाऊँगा ? पिता के उत्तर न देने पर जब उसने दुबारा, तिबारा अपना प्रश्न दुहराया तो वाजश्रवा ने अप्रसन्न होकर कहा कि तुझे मौत के हवाले करता हूँ। उत्तर के दो अर्थ हो सकते थे। एक तो केवल अप्रसन्नता, मौत के हवाले करना, इन शब्दों का अनिष्ट और अप्रसन्नता सूचक होना तो स्पष्ट ही है। उत्तर का दूसरा भाव यह था कि मृत्यु नाम के किसी गृहस्थ विद्वान् के लिए नचिकेता को देना। नचिकेता पिता की अप्रसन्नता समझते हुए भी दूसरे अर्थ का लेना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझकर घर से चल दिया ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ–(बहूनाम्) बहुतों में तो (प्रथमः, एमि) मैं श्रेष्ठ हूँ और (बहूनाम्, मध्यमः एमि) और बहुतों में मध्यम हूँ। (यमस्य) मृत्यु का (किं स्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है, (यत्) जो वह (मया) मुझसे (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (पूर्वे) पहले "हुआ उसे" (अनुपश्य) देख (तथा) वैसा ही (परे) आगे हुआ (प्रतिपश्य) देखें कि

(मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) धान ही के सदृश (पच्यते) मरता है ओर (सस्यम् इव) और धान ही के सदृश (पुनः) फिर (आजायते) उत्पन्न होता है ।। ६ ।।

व्याख्या–मृत्यु के घर जाते हुए वह (नचिकेता) सोचने लगा कि मैं बहुतों (विद्यार्थियों) में तो श्रेष्ठ हूँ और बहुतों में मध्यम, नहीं मालूम यम (आचार्य) का कौन सा काम है जो चाहे मुझे करना पड़ेगा। फिर वह सोचने लगा, कि संसार में चाहे बीते काल पर दृष्टि डालें और चाहे आने वाले समय को देखें। यह बात तो साफ तौर से मालूम होने लगती है कि मनुष्य धान आदि औषधियों के सदृश नष्ट हो जाता है और उसी की तरह फिर पैदा हो जाता है ।। ५, ६ ।।

नोट–मनुष्य की इस मरने-जीने की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही उसने यम से तीसरा वर मांगा था।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।। ७ ।।

अर्थ–(वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र यम (गृहान्) आपके घरों में (वैश्वानरः) एक तेजस्वी (ब्राह्मण) विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (प्रविशति) प्रविष्ट हुआ है (तस्य) ऐसे अतिथि की (सद्गृहस्थ) (एताम्) इस (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं इसलिए (उदकम्, हर) जल को (आतिथ्य के लिए) लीजिए ।। ७ ।।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृता-
ञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ।। ८ ।।

अर्थ–(यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) भूखा (वसति) रहता है (तस्य) उस (अल्पमेधसः) अल्पबुद्धि की (आशाः) ज्ञात वस्तु की कामना, (प्रतीक्षे) अज्ञात वस्तु की चाहना, (सङ्गतम्) सत्संग के फल, (सूनृताम्) मधुरभाषिता, (इष्ट) यज्ञादि

श्रौतकर्म के फल (आपूर्ते) तालाब आदि बनाने रूप स्मार्त कर्म के फल (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत् सर्वान्) ये सब (वृङ्क्ते) जाते रहते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या–नचिकेता वैवस्वत (यम) के घर पहुँचा, परन्तु किसी कारणवश वह उस (नचिकेता) का आतिथ्य न कर सका। जब नचिकेता तीन दिन उसके घर बिना किसी पूछताछ के पड़ा रहा तो किसी धर्मज्ञ ने यम को चेतावनी दी कि नचिकेता का आतिथ्य[⊗] करे क्योंकि जिस गृहस्थ के घर में विद्वान् अतिथि बिना आतिथ्य के रहता है उसके पुत्रादि सभी नष्ट हो जाते हैं। उस धर्मज्ञ ने यह बात केवल डराने के लिए अत्युक्ति से नहीं कही थी किन्तु इसमें कुछ तथ्य है। जब कोई व्यक्ति किसी का आतिथ्य नहीं करना चाहता तो उसकी इच्छा होती है कि उसे घर से रुखसत करे और इसके लिए उसे कुछ रुखाई से बात करनी पड़ती है। रुखाई से बात करने के फलरूप में मधुरभाषिता जाती है। मधुरभाषिता के न रहने से कोई विद्वान् न उसके पास जाता है, न उसे अपने पास आने देता है। इससे सत्संग भी गया और इस सत्संग के अभाव से श्रौत और स्मार्त कर्म भी छूटे, क्योंकि बिना विद्वानों के सहयोग के ये काम अकेले करने के नहीं हैं। विद्वानों के असहयोग से पुत्रेष्टि आदि करके पुत्र भी पैदा नहीं कर सकता और यदि पैदा हुआ भी तो वह मूर्ख ही रहेगा जो मरने से बदतर है, जैसा कि नीति में कहा गया है–

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ (पञ्चतन्त्र)

अर्थात् पुत्र का पैदा न होना, पैदा होकर मर जाना और मूर्ख रहना–इन तीनों में से पहले दोनों श्रेष्ठ हैं। परन्तु अन्तिम

⊗ नोट–प्राचीन काल में आतिथ्य के लिए तीन काम करने पड़ते थे–(१) अर्घ्य, पाद्य अर्थात् सत्कारपूर्वक जल से पांव आदि धुलाना, (२) आसन अर्थात् बैठने को उचित वस्तु देना, (३) मधुपर्क अर्थात् अल्पाहार (नाश्ते) के लिए कुछ भोजन देना। इसी के लिए उस धर्मज्ञ ने जल लाने के लिए यम को परामर्श दिया था।

(मूर्ख रहना) श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि पहले दो से तो मनुष्य को एक ही बार दुःखी होना पड़ता है परन्तु अन्त की बात से तो उसे पग-पग पर दुःख भोगना पड़ता है। अस्तु, सन्तान के मूर्ख रहने से पशु आदि धन का संग्रह भी सम्भव नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त बातों के अभाव से कोई गृहस्थ न किसी वस्तु की आशा कर सकता है और न किसी की प्रतीक्षा ॥ ७, ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे–
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे अस्तु,
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

अर्थ–(ब्रह्मन्) हे विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (नमस्यः) आप सत्कार करने योग्य हैं (ते) आपके लिए (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) हो (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मवित्! (यत्) जो (मे, गृहे) मेरे घर में, (तिस्रः, रात्रीः) तीन रात (अनश्नन्) (आप) भूखे (अवात्सीः) रहे हैं (तस्मात्) इसलिए (प्रति) प्रति रात्रि (एक के हिसाब से) (त्रीन् वरान्) तीन वरों को (वृणीष्व) स्वीकार करें ॥ ९ ॥

व्याख्या–उस धर्मज्ञ पुरुष की चेतावनी से यम सावधान होकर नचिकेता के पास आया और अपने कल्याणार्थ, आतिथ्य न कर सकने और नचिकेता के तीन रात भूखे रहने के प्रायश्चित्त रूप में तीन वर देने का वचन दिया ॥ ९ ॥

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो त्वत्प्रसृष्टं मामभि वदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु! (गौतमः) मेरा पिता गौतम (मा, अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) अच्छे विचार वाला, (सुमनाः) प्रसन्नमन (वीतमन्युः) क्रोधरहित (यथा) जैसा पहले था, (स्यात्) होवे (त्वत् प्रसृष्टम्) आपके भेजे गए (मा अभि) मुझे देखकर (प्रतीतः सन्) मुझ पर विश्वास करता हुआ

(वदेत्) बातचीत करे (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन में से (प्रथमम्) पहला (वरम्) वर (वृणे) मांगता हूँ ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

अर्थ–(औद्दालकिः) उद्दालकवंशी (आरुणिः) अरुण का पुत्र तेरा पिता गौतम (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था (मत्प्रसृष्टः) मेरे भेजे हुए तुझ पर (प्रतीतः) विश्वास करने वाला (भविता) होगा (वीतमन्युः) क्रोध रहित होकर (रात्रीः) रात्रियों में (सुखम्) सुख से (शयिता) सोयेगा (त्वाम्) तुझको (मृत्युमुखात्) मौत के मुँह से (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

व्याख्या–नचिकेता से उसका पिता अप्रसन्न हो ही चुका था। चाहे पिता का क्रोध अनुचित ही था, तब भी उस काल की पितृभक्ति प्रशंसनीय थी कि नचिकेता ने सबसे पहला वर अपने पिता की प्रसन्नता उपलब्ध करने के सम्बन्ध में ही मांगा*। वर्तमान उच्छृंखलता के काल में, दुःख है, पुत्र और पुत्रियों को इस प्रकार की मातृ और पितृभक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती जिसके लिए उर्दू के कवि ने उचित ही कहा है–

---

* पुत्र से इस प्रकार की भावना की आशा करके पुत्र शब्द उसके लिए बनाया गया था। पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में कई प्रकार से की जाती है, परन्तु भाव सबका एक सा है–

(क) *पुरु त्रायते, निपणीद्वा पुत् नरकः तस्मातत्त्रायत इति वा।* अर्थात् बहुत बचाता है दुःखों से (जो वह पुत्र है) अथवा (निरुक्त २/११) पुत् नाम नरक का है उससे जो बचाता है वह पुत्र है।

(ख) *पुनाति त्रायते च स पुत्रः।* अर्थात् जो पवित्र करता है और रक्षा करता है वह पुत्र है।

(ग) मनुस्मृति ९/१३५ में लिखा है–
पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥
अर्थात् नरक से जो पिता को बचाता है इसलिए स्वयं ब्रह्मा ने उसका नाम पुत्र रखा है।

हम ऐसी कुल किताबें, काबिले जब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़ करके लड़के बाप को खब्ती समझते हैं ।।
(अकबर इलाहाबादी)

अस्तु यम ने यह वर कैसे दे दिया कि उस का पिता उस से प्रसन्न हो जाएगा। इसका उत्तर यह है कि यम को अपनी शिक्षा-पद्धति पर विश्वास था। वह जानता था कि जब वह नचिकेता को मातृ-पितृ-भक्त और ब्रह्मज्ञानी बना देगा तब ऐसे पुत्र से कोई पिता कैसे अप्रसन्न रह सकता है। सच तो यह है कि जब वाजश्रवा ने सुना होगा कि उसके पुत्र ने, सबसे पहला यत्न उसको प्रसन्न करने के लिए ही किया, उसका क्रोध तो इतनी ही बात से पुत्र की पितृभक्ति देखकर शान्त हो गया होगा ।। १०, ११ ।।

स्वर्गेलोके न भयं किञ्चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

अर्थ–(स्वर्गेलोके) स्वर्गलोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न, अस्ति) नहीं है (न तत्र) न वहाँ (त्वम्) तू (मृत्यु) है और (न) कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है (अशनाया) भूख (पिपासे) और प्यास (उभे) दोनों को (तीर्त्वा) तैरकर (शोकातिगः) शोक से रहित मनुष्य (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) प्रसन्न रहता है ।। १२ ।।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो, प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त, एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (सः, त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधन (अग्निम्) अग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उसे (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखने वाले (मह्यम्) मेरे लिए (प्रब्रूहि) वर्णन कर (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग प्राप्त पुरुष (अमृतत्वम्) अमृतत्व को (भजन्ते) सेवा करते हैं (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूँ ।। १३ ।।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां, विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग प्राप्ति के साधन (अग्निम्) अग्नि को (प्रजानन्) जानता हुआ (ते) तेरे लिए (तत्) उस को (प्रब्रवीमि) कहता हूँ (मे, निबोध) मेरे वचन को सुन और जान (अथ) और (त्वम्) तू (एनम्) इस (अग्नि) को (अनन्त) विविध (लोकाप्तिम्) लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला (प्रतिष्ठाम्) (जगत्) की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (विद्धि) जान ।। १४ ।।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ।। १५ ।।

अर्थ–(तस्मै) नचिकेता के लिए (लोकादिम्) सृष्टि के भी आदि में उत्पन्न (तम्, अग्निम्) उस अग्नि को (उवाच) बतलाया (याः) जो (वा) या (यावतीः) जितनी (वा यथा) या जिस प्रकार से (इष्टकाः) ईंटें चिननी चाहिए (च) और (स) उस नचिकेता ने (अपि) भी (यथा) जिस प्रकार मृत्यु ने (उक्तम्) बतलाया या (तत्) उस को (प्रति अवदत्) कहकर सुनाया (अथ) तब (अस्य) इस (नचिकेता) के ऊपर (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी मृत्यु (आह) बोला ।। १५ ।।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा, वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ।। १६ ।।

अर्थ–(महात्मा) मृत्यु (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला–(भूयः) और भी (इह) इस (दूसरे वर के प्रसंग) में (तव) तेरे लिए (अद्य) अब (वरम्) वर (ददामि) देता हूँ (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (तव) तेरे (एव) ही (नाम्ना) नाम से (भविता) प्रसिद्ध होगा (च) और (इमाम्) तू इस (अनेकरूपाम्) अनेक रूप वाली (सृङ्काम्) माला को (गृहाण) ग्रहण कर ।। १६ ।।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं, त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा, निचाय्येमाᳬशान्तिमत्यन्तमेति ।। १७ ।।

अर्थ–(त्रिणाचिकेत:) तीन बार (जिस अग्नि का उपदेश नचिकेता को किया गया और जो उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ) उस नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला (त्रिभि:) तीन से (सन्धिम्) मेल को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्म-मृत्यू) जन्म और मरण को (तरति) पार हो जाता है (ब्रह्मयज्ञम्) वेद के उत्पन्न करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) ईश्वर को (विदित्वा) जान (निचाय्य) और निश्चय करके (अत्यन्ताम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ।। १७ ।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा, य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरत: प्रणोद्य, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। १८ ।।

अर्थ–(य:) जो (विद्वान्) (त्रिणाचिकेत:) तीन बार अग्नि का चयन करने वाला (एतत्) इस (त्रयम्) त्रित्व को (विदित्वा) जानकर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (स:) वह (मृत्युपाशान्) मृत्यु की बेड़ियों को (पुरत:) आगे (प्रणोद्य) काटकर (शोकातिग:) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोकं) स्वर्ग लोक में (मोदते) आनन्द करता है ।। १८ ।।

व्याख्या–नचिकेता ने स्वर्ग के साधन रूप अग्नि को दूसरे वर से जानने की इच्छा प्रकट की और यम ने उसको उस अग्नि का यथोचित उपदेश किया। वह स्वर्ग क्या था और उसकी प्राप्ति का साधन रूप वह अग्नि क्या थी ? सकामता के साथ यज्ञादि करने से जिस स्वर्ग की प्राप्ति का विधान ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में किया गया, स्पष्ट है कि उस स्वर्ग के सम्बन्ध में न तो नचिकेता ने प्रश्न किया था और न यमाचार्य ने उस स्वर्ग को प्राप्ति के साधन ही नचिकेता को बतलाये थे। नचिकेता के प्रश्न में अभिलक्षित स्वर्ग के विशेषण दिए हैं वे ये हैं कि वहाँ जरा (बुढ़ापा आदि) और मृत्यु नहीं है और न भूख-प्यास का वहाँ कष्ट भोगना पड़ता है। वहाँ निर्भीकता के साथ सुखोपभोग करते हुए स्वर्गवासी अमरता का सेवन करते हैं। यम ने उस स्वर्ग की साधन भूत जिस अग्नि का विधान किया है, उसको उसने अनेक

लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला, जगत् की स्थिति का कारण और हृदयाकाश में स्थित बतलाया है। ये प्रश्नोत्तर स्पष्ट रीति से प्रकट करते हैं कि नचिकेता ने ब्रह्मलोक (मोक्ष) प्राप्ति का साधन पूछा था और यम ने ईश्वर-प्राप्ति का साधन उसको बतलाया है। वह स्वर्ग जो सकाम कर्म यज्ञादि से प्राप्त हुआ करता है, वह मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ (देवयोनि) में पैदा होने से बढ़कर और कुछ नहीं, अवश्य वह देवयोनि दुःखों से रहित और उत्कृष्टतम सांसारिक सुखों से पूर्ण होती है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "सकामजन्म स्वर्ग" में मनुष्य स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न हुआ करता है–

"स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति।"

(शतपथ ब्राह्मण ४/६/१/१)

साफ जाहिर है कि स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न होकर जरा, मृत्यु, भूख, प्यासादि से छुटकारा पा लेना सम्भव नहीं है। जो स्वर्ग प्रश्नोत्तर में पूछा और बतलाया गया है उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन ईश्वर-प्राप्ति ही है। हाँ, गौण साधन उसकी प्राप्ति का भौतिक अग्नि भी हो सकता है और इसलिए यम ने ईंटों से यज्ञकुण्ड बनाने की पूर्ण विधि भी बताई, जो ईश्वर-प्राप्ति के साधन = निश्चयात्मक ज्ञान-प्राप्ति का गौण साधन अवश्य हो सकता है और वह इस प्रकार कि उसे सकामता दूर करके पूर्ण निष्कामता के साथ किया जाए। निष्काम कर्म के मोक्ष के साधन होने में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। उपनिषद् के अन्त में कहे हुए शब्द कि "मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो और शोक रहित होकर प्राणी स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है।" स्पष्ट रीति से स्वर्गलोक का अभिप्राय ब्रह्मलोक प्रकट करते हैं ॥ १२-१८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता (एषः) यह अग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का साधन (ते) तेरे लिए कहा गया (यम्) जिसको

(द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (अवृणीथाः) तूने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (जनासः) मनुष्य (तव, एव) तेरे ही नाम से (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (तृतीयम्) तीसरा (वरं) वर (वृणीष्व) मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं, वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

अर्थ–(मनुष्ये) मनुष्य के (प्रेते) मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) बाकी रहता है (इति) ऐसा (एके) कुछ लोग (च) और (न) नहीं (अस्ति) रहता (इति) ऐसा भी (एके) कुछ लोग मानते हैं (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) उपदेश किया हुआ (अहम्) मैं (एतत्) इसको (विद्याम्) जानूं (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा, न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व, मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

अर्थ–(पुरा) पहले (अत्र) इसमें (देवः) विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सिम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह (धर्मः) विषय (अणुः) सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (नचिकेतः) इसलिए हे नचिकेता ! (अन्यम्) कोई और (वरम्) वर (वृणीष्व) मांग (मा) मुझको (मा) मत (उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य दबा (एनम्) इस वर को (अतिसृज) छोड़ दे ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल, त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो, नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (अत्र) इस विषय में (देवैः) देवों ने (अपि) भी (विचिकित्सितं) सन्देह किया था (त्वम् च किल) और तू भी (यत्) जो (सुविज्ञेयं न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है परन्तु (अस्य) इस विषय का (वक्ता) उपदेश करने वाला (त्वादृग्) तेरे

तुल्य (अन्यः) और (न, लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) सदृश (अन्यः) और (कश्चित्) कोई (वरः न) वर नहीं है ।। २२ ।।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

अर्थ–(शतायुषः) १०० वर्ष जीने वाले (पुत्रपौत्रात्) पुत्र और पौत्रों को (वृणीष्व) मांग (बहून्) बहुत (पशून्) पशु, (अश्वान्) घोड़े, (हस्ति) हाथी, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (भूमेः) पृथ्वी के (महत्) बड़े, (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) मांग (स्वयं च) और तू स्वयं (यावान्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) इच्छा करता है (जीव) जीवित रह ।। २३ ।।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे, वरं, वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि, कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

अर्थ–(यदि) जो (एतत्) इस (वरम्) वर के (तुल्यम्) तुल्य तू (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) धन और (चिरजीविकाम्) सदा की आजीविका को (वृणीष्व) मांग (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वम्) तू (महाभूमौ) इस महान् पृथ्वी पर (एधि) बढ़ने वाला हो (त्वा) तुझको (कामानाम्) कामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूँ ।। २४ ।।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या, न हीदृशा लभनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

अर्थ–(मर्त्यलोके) संसार में (ये, ये, कामाः) जो जो कामनाएँ (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं (सर्वान्) उन सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग (इमाः) ये (सरथाः) रथों, सहित (सतूर्याः) बाजों के साथ (रामाः) रमणीय स्त्रियाँ हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभि) मेरी दी हुई

(स्त्रियों) से (परिचारयस्व) अपनी सेवा करा। (हि) निश्चय (ईदृशाः) ऐसी युवतियाँ (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (मरणम्) मौत को (मा) मत (अनुप्राक्षीः) पूछ ।। २५ ।।

व्याख्या—नचिकेता का तीसरा प्रश्न आत्मा की अमरता से सम्बन्धित था। आस्तिक और नास्तिक संसार में सदा से रहते चले आये हैं। आस्तिक का सिद्धान्त है कि जीवात्मा अमर है और शरीर नष्ट होने के साथ वह नष्ट नहीं होता किन्तु आवागमन के द्वारा एक को छोड़कर दूसरी योनियों में आया-जाया करता है। परन्तु नास्तिकवाद यह है कि शरीर के मेल का परिणाम आत्मोत्पत्ति है और इसीलिए शरीर के नष्ट होने के साथ वह भी नष्ट हो जाता है। नचिकेता एक नवयुवक ब्रह्मचारी था। इस प्रकार का सन्देह उसे हो जाना स्वाभाविक था और उसी सन्देह की निवृत्ति के लिए उसने यम से यह तीसरा प्रश्न किया था। यम ने पहले वरों की तरह इसका उत्तर न देकर क्यों नचिकेता को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर इस प्रश्न का उत्तर देने से अपने को बचाना चाहा ? इसका कारण यह है कि प्राचीन पद्धति यह थी कि आत्मविद्या सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिये जाते थे जिनको आचार्य इस विद्या के जानने का पात्र समझा करते थे। नचिकेता इस विद्या के प्राप्त करने का अधिकारी है या नहीं, इसी को जानने के लिए, उसकी परीक्षा लेने के उद्देश्य ही से, इसी प्रकार के प्रलोभन उसे दिए गए थे और जब वह प्रलोभनों में न आकर परीक्षोत्तीर्ण हुआ तो यम ने उसे अपेक्षित शिक्षा दी। यम ने जो प्रलोभन नचिकेता को दिये थे। उनमें उसने सौ वर्ष जीने वाले पुत्र पौत्रों को देने की बात कही तथा माण्डलिक राज्य देने का प्रलोभन भी उसे दिया था। यम के लिए किस प्रकार यह सम्भव था कि वह इन दिये गये प्रलोभनों की पूर्ति करता, यह सन्देह है जो उपनिषद् के पढ़ने वालों के हृदयों में प्रायः उठा करता है। इसका समाधान यह है—(१) योगदर्शन

में कहा गया है कि जो मनुष्य सत्य की सिद्धि कर लेता है उसकी वाणी में अमोघता आ जाती है अर्थात् ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है वह जो कुछ भी कह देता है वह सत्य हो जाता है।[8] सम्भव है कि यम ऐसी ही सिद्धि प्राप्त योगी हो। दूसरी बात माण्डलिक राज्य देने के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सम्भव है कि जनक और अजातशत्रु आदि की तरह आत्मज्ञानी होने के सिवाय यम समृद्धिशाली भी हो और ऐसी हालत में उसके लिए यह सर्वथा सम्भव था कि वह नचिकेता को अपने राज्य का कोई भाग दे डालता यदि नचिकेता प्रलोभन में आ जाता। एक बात और भी इस सम्बन्ध में कही जाती है और वह यह है कि यम ने दूसरे वर 'ईश्वर प्राप्ति' के सम्बन्ध में, जो ब्रह्मविद्या का गहनतम प्रश्न है, नचिकेता को ननु-नच किये बिना ही उसका उत्तर दे दिया परन्तु जीवात्मा का वर्णन करने में इस प्रकार की परीक्षा लेना क्यों आवश्यक समझा ? इसका उत्तर यह है कि यम को दूसरे वर के सम्बन्ध में नचिकेता को स्थूल विवरण दे देने के सिवाय कुछ सूक्ष्म रहस्य उद्घाटित नहीं करने थे। इसलिए कि वह उपनिषद् का मुख्य प्रश्न नहीं परन्तु तीसरा प्रश्न उपनिषद् का मुख्य प्रश्न है और इसमें यम को ब्रह्मविद्या का हृदय खोलकर नचिकेता के सम्मुख रखना था। इसलिए ऐसा करने से पूर्व उसने नचिकेता की परीक्षा ले लेनी आवश्यक समझी और इसीलिए उसने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये ।। १९-२५ ।।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।। २६ ।।

अर्थ-(अन्तक) हे मृत्यु ! (यद्) यह (श्वोभावाः) कल ही कल, (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) समस्त इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेज) का (जरयन्ति) नाश कर देती हैं (सर्वम्) सब (अपि) भी (जीवितम्) जीवन (अल्प एव)

थोड़ा ही है। (इसलिए मनुष्य) (तव, एव) तेरे ही (मृत्यु के ही) (वाहा:) वाहन रहें और (नृत्यगीते) नाचना गाना भी (तव) तेरा ही रहा ।। २६ ।।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।। २७ ।।

अर्थ–(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तेन) धन से (न) नहीं (तर्पणीयः) तृप्त होता (चेत्) जो (त्वा) तुझ को (अद्राक्ष्म) हमने देखा तो (वित्तम्) धन को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे। (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा (जीविष्यामः) जीवेंगे। इसलिए (मे) मुझको (वरः) वर (तु) तो (सः, एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ।। २७ ।।

व्याख्या–नचिकेता यम के दिए हुए प्रलोभनों में नहीं आया, उसने साफ यम से कह दिया कि जिस वस्तु धनादि से मनुष्य की कभी तृप्ति ही नहीं होती उसे तुझसे मांगकर मैं क्या करूँगा। इसके सिवाय मनुष्य यदि पूर्ण आयु को भी प्राप्त कर लेवे तब भी तो वह केवल १०० वर्ष का समय, आत्मज्ञान प्राप्ति के फल की अपेक्षा बहुत थोड़ा है और फिर उस आयु के समाप्त होने पर मनुष्य को मौत के फन्दे में फंसना पड़ता है। इसलिए क्यों न वह ज्ञान प्राप्त किया जावे जिससे अमरता का जीवन प्राप्त हो सके और वह (नचिकेता) मौत के फन्दे से भी छूट सके। मनुस्मृति २/६४ में लिखा है–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।।

महाभारत में भी (देखो अ० ७५/१९) यह श्लोक आया है। राजा ययाति, शुक्राचार्य के शाप से, कहा जाता है कि बूढ़ा हो गया परन्तु फिर शुक्र की कृपा से उसका बुढ़ापा जवानी में बदल गया और उस (ययाति) ने प्रसिद्ध कथानुसार बहुत वर्षों तक इस नई जवानी का उपयोग किया। अन्त में उसने उपर्युक्त वाक्य कहकर प्रकट कर दिया कि "मनुष्य की कामनाएँ भोग

करने से तृप्त नहीं होतीं किन्तु जैसे अग्नि की ज्वाला घृत डालने से बढ़ती हैं इसी प्रकार कामनाएँ भोग करने से और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इसलिए नचिकेता ने यम के प्रस्तावित भोगमय जीवन को पसन्द नहीं किया ।। २६, २७ ।।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अर्थ–(अजीर्यताम्) बुढ़ापे से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य) प्राप्त होकर (क्वधःस्थः) पृथ्वी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मनुष्य (जीर्यन्) शरीर के नाश का अनुभव करता हुआ (वर्ण) सुन्दरवर्ण (रति) और स्त्री प्रसंग से हुए (प्रमोदान्) सुखों का (अभिध्यायन्) विचार करता हुआ (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुआ। (अति) बड़े (दीर्घे) लम्बे (जीविते) जीवन में (रमेत) रमण करे ।। २८ ।।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो, यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यस्मिन्) जिस (विषय) में (इदम्) यह (कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं) (विचिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) महान् (साम्पराये) परमार्थ दशा में (प्राप्त होता है) (तत्) उसको (नः ब्रूहि) हमारे लिए कह (यः) जो (अयम्) यह (गूढम्) सूक्ष्म (वरः) वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उसे (अन्यम्) भिन्न वर (नचिकेता न वृणीते) नचिकेता नहीं चाहता ।। २९ ।।

व्याख्या–ऐसे सूक्ष्म विषयों के जानने वाले, दुष्प्राप्य हुआ करते हैं। इसलिए यम से नचिकेता ने कहा कि तेरे जैसे आत्मज्ञानी को प्राप्त होकर मैं किसलिए क्षणिक सांसारिक विषय भोग के सुख की इच्छा करूँ। विषय सुख की निःसारता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कोई भी वस्तु उदाहरण के लिए थोड़ी सी शक्कर, स्वाद लेने के अभिप्राय से, जुबान पर रखो,

जुबान पर रखते ही उसका स्वाद आ जायेगा। अब कोई यदि इस उद्देश्य से कि वह स्वाद बराबर आता रहे, शक्कर को न खाकर जुबान ही पर रखा रहने दे तो अब उसको स्वाद नहीं आता। हाँ, शक्कर की दूसरी मात्रा को जुबान पर फिर रखने से अवश्य स्वाद आ जायेगा। परन्तु स्वाद आने के बाद उसी शक्कर ही को कितनी ही देर जुबान पर रखने से फिर स्वाद नहीं आता। इसीलिए आत्मज्ञानी स्त्री-पुरुष सांसारिक विषय सुख को निस्सार कहते और मानते हैं ॥ २८, २९ ॥

॥ प्रथमा वल्ली समाप्त ॥
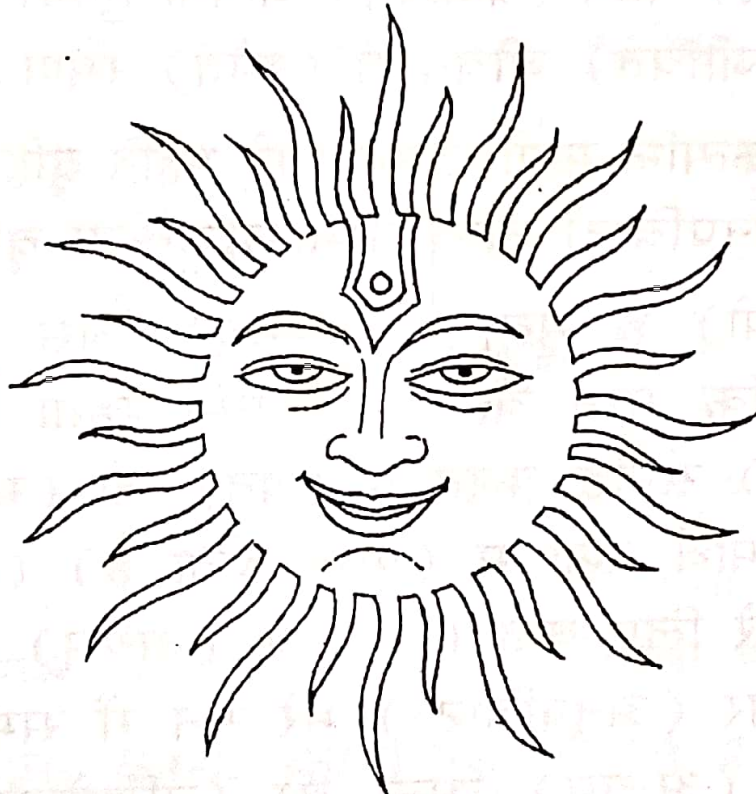
द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अर्थ—(श्रेयः) मोक्ष मार्ग (अन्यत्) और है (उत्) और (प्रेयः) लोकोन्नति का मार्ग (अन्यत्, एव) और ही है (ते) वे (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न अर्थ में (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) श्रेय (आददानस्य) ग्रहण करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है। (यः उ) और जो (प्रेयः वृणीते) प्रेय को ग्रहण करता है वह (अर्थात्) उद्देश्य से (हीयते) गिर जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—प्रवृत्ति (प्रेय) और निवृत्ति (श्रेय) अर्थात् लोक और परलोकोन्नति, ये दो मार्ग हैं जिनसे मनुष्य को गुजरना पड़ता है। इनमें से प्रेय को इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए जिससे वह श्रेय का साधन बन जाये। इसलिए कहा गया है कि उद्देश्य तो श्रेय बनाना चाहिए परन्तु जो लोग विषय-भोग की दृष्टि से केवल लोकोन्नति को अपना लक्ष्य (ध्येय) बना लेते हैं और श्रेय की चिन्ता नहीं करते वे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप असली ध्येय से गिर जाते हैं।

उदाहरण— इस सम्बन्ध में नारद की एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका प्रसिद्ध है। नारद की युवावस्था ही थी जब वह श्रीकृष्ण के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने आया। कृष्ण जी ने उसे अनधिकारी समझकर उपदेश नहीं दिया, परन्तु नारद उनके सिर रहा। एक दिन श्रीकृष्ण और नारद सैर करने चल दिये। रास्ते में कुछ ही दूरी पर एक गाँव दिखाई दिया। कृष्ण को प्यास लगी। नारद गाँव से पानी लेने गया। कुएँ पर एक सुन्दर युवती जल भर रही थी। नारद को उसने पानी दिया, परन्तु नारद

उसके रूप पर इतना मोहित हुआ कि युवती के पीछे-पीछे उसके घर चला गया और वह अविवाहित थी इसलिए उसके पिता से विनय की कि युवती का विवाह उससे कर दिया जावे। विवाह के बाद गृहस्थी बनकर नारद वहीं रहने लगा। उनके क्रमशः तीन पुत्र हुए। पिता मर चुका था। कुछ समय बाद ग्राम में पानी की बाढ़ आई और नारद ने अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर ग्राम के चारों ओर भरे पानी से प्राण रक्षार्थ निकलने का यत्न किया परन्तु पानी वेग से बढ़ता ही जाता था। इसलिए सावधानी करने पर भी एक-एक करके तीनों पुत्र और स्त्री पानी में बह गये। कठिनता से नारद अपने प्राण बचाकर वहाँ पहुँचा, जहाँ से वह श्रीकृष्ण के लिए पानी लेने चला था। वहाँ पहुँचने पर उस को स्मरण आया कि वह अपने उद्देश्य से पतित होकर किस जगड्वाल में फंस गया था ।। १ ।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

अर्थ-(श्रेयः) श्रेय (च) और (प्रेयः) प्रेय (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) प्राप्त होकर (विविनक्ति) विचार करता है। (धीरः) (विद्वान्) (हि) निश्चय (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्ग को (अभिवृणीते) स्वीकार करता है (मन्दः) मूर्ख (योगक्षेमात्) सांसारिक सुखों के प्राप्त करने और उनको रक्षित करने के विचार से (प्रेयः) प्रवृत्ति मार्ग को (वृणीते) ग्रहण करता है ।। २ ।।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नेताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो, यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

अर्थ-(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) सो (त्वम्) तूने (प्रियान्) पुत्रादि, (प्रियरूपान्) सुन्दर स्त्री आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) निस्सार समझते हुए (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस (भोग की) (सृङ्कम्) शृंखला में (न,

अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिसमें (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या–यम नचिकेता से कहता है कि धीर पुरुष श्रेय को और मन्द अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुख की दृष्टि से केवल प्रेय को अपना ध्येय बनाते हैं परन्तु तूने विषयभोग की निस्सारता पर विचार करके छोड़ दिया जिस में बहुत लोग फंस जाया करते हैं ॥ ३, ४ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

अर्थ–(एते) ये दोनों मार्ग (विपरीते) एक-दूसरे से विपरीत (विषूची) विरुद्धार्थ सूचक (दूरम्) और दूर हैं (या) जो (अविद्या) अविद्या (च) और (विद्या) विद्या (इति) इस नाम से (ज्ञाता) जाने गये हैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या (श्रेय) का चाहने वाला (मन्ये) मानता हूँ (त्वा) तुझको (बहवः) बहुत सी (कामाः) कामनाएँ (न, अलोलुपन्त) प्रलोभित नहीं करती हैं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अर्थ–(अविद्यायाम्) अविद्या (अन्तरे) में (वर्तमानाः) पड़े हुए (स्वयम्) अपने को (धीराः) धीर और (पण्डितम्) विद्वान् (मन्यमानाः) मानते हुए (दन्द्रम्यमाणाः) उल्टे रास्ते पर चलते हुए (मूढ़ा) मूढ (अन्धेन) अन्धे से (एव) ही (नीयमानाः) ले जाये गये (यथा) जैसे (अन्धाः) (परियन्ति) घूमते हैं ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अर्थ–(वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्) मूढ़ (प्रमाद्यन्तम्) प्रमादपूर्ण (बालम्) विवेक रहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक की बात (न प्रतिभाति) पसन्द नहीं आती (अयम्)

यह (लोक:) लोक है (पर:, नास्ति) परलोक कुछ नहीं (इति) (मानी) ऐसा मानने वाला (पुन: पुन:) बार-बार (मे) मेरे (मृत्यु के) (वशम्) वश में (आपद्यते) आता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—श्रेय और प्रेय, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग ही को विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जो लोग नचिकेता की तरह सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं होते वे ही श्रेय (विद्या) पथगामी होते हैं परन्तु प्रेय (अविद्या) ही को जिन लोगों ने अपना ध्येय बना रखा है और जो खुले तौर से परलोक (श्रेय) पथ की सत्ता नहीं मानते, उन्हें बार-बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। वे संसार में भी सफल मनोरथ नहीं होते।

उदाहरण— ऐन्थनी (Anthony) ने सांसारिक प्रेम से प्रसन्नता की आशा की, ब्रूटस (Brutus) ने लोकैषणा ही से सुख चाहा और जूलियस सीज़र (Julius Ceasar) ने दूसरों पर विजय कामना में ही आनन्द ढूँढ़ा, परन्तु इतिहास साक्षी है कि पहला अपमानित हुआ, दूसरे को ग्लानि और तीसरे को दुःखी होना पड़ा और परिणाम में तीनों ही की बरबादी हुई। इसीलिए केवल प्रेय ही से सुख चाहना भूल है। श्रेय को ऊँचा आसन देने से प्रेय की भी उपयोगिता हो जाती है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

अर्थ—(य:) जो (आत्मज्ञान) (बहुभि:) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने को भी (न लभ्य:) नहीं मिलता (शृण्वन्त:, अपि) सुनते हुए भी (बहव:) बहुत (यम्) जिसको (न विदु:) नहीं जानते (अस्य) इस आत्मज्ञान का (वक्ता) वक्ता (आश्चर्य:) कोई बिरला ही होता है। (अस्य) इसका (लब्धा) पाने वाला (कुशल:) कोई प्रवीण ही होता है (कुशलानुशिष्ट:) प्रवीण पुरुष से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्य:) कोई होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—परलोक पथ-प्रदर्शक कोई-कोई अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं। यह मार्ग कुछ कठिन है। इसलिए बहुत तो इसे

जानना ही नहीं चाहते और जो जानना भी चाहते हैं उनमें से बहुत के यह समझ ही में नहीं आता ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अर्थ–(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्ताः) उपदेश किया (बहुधा) बहुत प्रकार से (चिन्त्यमानः) चिन्तन किया हुआ भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) ईश्वर के अनन्य भक्त के उपदेश किए हुए (अत्र) इस आत्मा में (गतिः, नास्ति) सन्देह नहीं होता (अणुप्रमाणात्) वह आत्मा सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अति सूक्ष्म है (हि) और निश्चय (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

अर्थ–(प्रेष्ठ) हे प्रियतम नचिकेता ! (एषा) यह आत्मज्ञान विधायिका (मतिः) बुद्धि (तर्केण) तर्क से (न अपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन, एव) आत्मवित् गुरु ही से (प्रोक्ता) उपदेश की हुई बुद्धि की (सुज्ञानाय) उत्तम ज्ञान के लिए उपयोगिता होती है। (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुआ है उससे (सत्य) निश्चल (धृतिः वत) धैर्य वाला (असि) है (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हमसे (प्रष्टा भूयात्) पूछने वाला हो ॥ ९ ॥

व्याख्या–जो लोग अवर (अश्रेष्ठ) अर्थात् स्वयं श्रेय पथगामी नहीं हैं वे यह मार्ग किसी को नहीं दिखा सकते परन्तु जो इस पथ के पथिक–ईश्वर के अनन्य भक्त हैं, उनके बतला देने पर किसी को भी सन्देह नहीं रहता। वह परमात्मा जो इस मार्ग (श्रेय) का लक्ष्य है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और निदिध्यासन (आत्मा से ग्रहण होने योग्य) का विषय होने से

तर्क का विषय नहीं है। इसलिए इस विषय में तर्क काम नहीं दे सकता किन्तु तर्क कुतर्क होने से बुद्धि का बिगाड़ने वाला होता है ।। ८, ९ ।।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।। १० ।।

अर्थ–(अहम्) मैं (शेवधिः) धन, ऐश्वर्य (अनित्यम्) अनित्य है (इति जानामि) ऐसा जानता हूँ (हि) निश्चय (अध्रुवैः) अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) अचल आत्मा (न, प्राप्यते) नहीं प्राप्त किया जाता है (ततः) इसलिए (मया) मैंने (नाचिकेतः अग्निः) नाचिकेत अग्नि का (चितः) चयन किया (और फलेच्छा रहित होकर) अनित्यैः द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान् अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुआ हूँ ।। १० ।।

व्याख्या–जब यज्ञ, फल विशेष की कामना से किया जाता है तब वह उसी अनित्य फल का अनित्य साधन हुआ करता है परन्तु जब वही यज्ञ निष्कामता के साथ फल को ईश्वर के अर्पण करके किया जाता है तब वह अनित्य होते हुए भी नित्य ईश्वर की प्राप्ति के साधनों में से एक हो जाता है। यम ने इसी दूसरे प्रकार के यज्ञ द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का संकेत इस उपनिषद्वाक्य में किया है ।। १० ।।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।। ११ ।।

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (कामस्य) भोग सम्बन्धी कामनाओं की (अप्राप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत् की (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (क्रतोः) यज्ञादि के (आनन्त्यम्) फल को (अभयस्य) लौकिक निर्भीकता की (पारम्) पराकाष्ठा को (स्तोमं महत्) स्तुति योग्य महिमा और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (उरुगायम्) (बहुधा मनुष्य जिनका) गीत गाते हैं (दृष्ट्वा) (असार) देखकर (धृत्वा) स्थिरता के साथ (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (इसलिए तू) (धीरः) धीर है ।। ११ ।।

व्याख्या—संसार के भोग की कामना आदि, जिनका इस श्लोक में जिक्र है, सामयिक और अल्पकालिक हैं, परन्तु ब्रह्म प्राप्ति का सुख चिरकालिक है इसलिए नचिकेता ने इस दूसरे के लिए पहले (सांसारिक सुख) को छोड़ दिया ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अर्थ—(धीरः) विद्वान् (अध्यात्म) आत्मा सम्बन्धी (योग) योग के (अधिगमेन) अभ्यास से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (गूढम्) सूक्ष्म (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण और आत्मा में व्यापक (गुहाहितम्) हृदयाकाश में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुष्प्राप्य (पुराणम्) नित्य (देवम्) प्रकाशमय (परमात्मा) को (मत्वा) जानकर (हर्षशोकौ) सुख-दुःख दोनों को (जहाति) छोड़ देता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥

अर्थ—(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस (धर्म्यम्) धर्म से सिद्ध होने योग्य आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर और (सम्परिगृह्य) अच्छी प्रकार ग्रहण और (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतत्) इस (अणुम्) सूक्ष्म (ब्रह्म) को (आप्य) प्राप्त हो और (सः) इस (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) उपलब्ध करके (मोदते) आनन्दित होता है—ऐसे ब्रह्म को (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्) खुला है (सद्म) द्वार (जिसका ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—अनेक गुणों से भूषित ब्रह्म को जानकर संसार के द्वन्द्वमय सुख और दुःख दोनों को धीर पुरुष छोड़ और अभ्यास तथा वैराग्य से उस ब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है—यह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग नचिकेता के लिए खुला हुआ है। ऐसा यम समझता है। विषय भोग सम्बन्धी सांसारिक सुख भी अन्त में दुःख प्राप्ति का हेतु हुआ करता है इसलिए आत्मज्ञानी, दुःख के साथ इस सुख को भी छोड़ दिया करता है ॥ १२, १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अर्थ–(धर्मात्) कर्त्तव्य रूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अर्थात्) अकर्तव्य से भी (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृत) कार्य्य (अकृतात्) और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) बीते काल से (भव्यात्) आने वाले समय से (च) वर्तमान से भी (अन्यत्र) अलग (यत्) जिसको (पश्यसि) तू देखता है (तत्) उसको (वद) कह ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

अर्थ–(सर्वे वेदाः) चारों वेद (यत्) जिस (पदम्) पद का (आमनन्ति) वर्णन करते हैं (सर्वाणि) सारे (तपांसि च) तप और नियमादि (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं। (यत्) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य के नियमों का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) उस (पदम्) पद को (ते) तेरे (नचिकेता के) लिए (संग्रहेण) संक्षेप से (ओम्) ओ३म् (इति) है (एतत्) यह (ब्रवीमि) कहता हूँ ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतत्) यह (ओ३म्) (एव) ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत्) यह (एव) ही (परम्) सर्वश्रेष्ठ (अक्षरम्) अक्षर हैं (एतत्, हि, एव) निश्चय इस ही (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्म को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो कोई (यत्) जिस विषय को (इच्छति) चाहता है (तस्य) उसको (तत्) वह प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

अर्थ–(एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जानकर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (महीयते) आनन्दित होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या–नचिकेता के पूछने पर यम ने बतलाया कि ब्रह्म जो मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, कृत्याकृत्य और तीनों काल से पृथक् है और जिसका वर्णन समस्त वेद करते हैं और जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन किया जाता है, वह ओम् पद वाच्य है और वही अविनाशी तथा सर्वाधार है और उसी के जानने से मनुष्य उच्च गति प्राप्त किया करता है ॥ १४-१७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

अर्थ–(विपश्चित्) ज्ञानी (अयम्) यह (आत्मा) (न, जायते) न उत्पन्न होता और (वा, न म्रियते) न मरता है (कुतश्चित्) किसी (उपादान) से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुआ (कश्चित्) कोई (इससे भी उत्पन्न नहीं हुआ) (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) नित्य (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) शरीर के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नष्ट नहीं होता ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु ँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय ँ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ–(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को, अर्थात् उसने आत्मा को मार दिया, ऐसा (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) समझता है (चेत्) और यदि (हतः) मरा हुआ (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) जानता है (तौ) वे (उभौ) दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) किसी को नहीं मारता (न हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

व्याख्या–ब्रह्म का उपदेश करने के बाद नचिकेता को जीवात्मा का जो उसके तीसरे वर का विषय है वर्णन करता

है। यम कहता है कि जीवात्मा अनुत्पन्न, अनादि और अमृत्यु है, वह किसी का न उपादान है और न कोई दूसरा उसका उपादान है। शरीर से सर्वथा पृथक् है और शरीर के नष्ट होने से नष्ट भी नहीं होता। अज्ञानी लोग समझते हैं कि उसे (जीव को) कोई मार सकता है अथवा वह किसी को मार दिया करता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अर्थ—(आत्मा) ब्रह्म) (अणोः) सूक्ष्म (जीवों) से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े (आकाशादि) से भी (महीयान्) बड़ा है वह (अस्य) इस (जन्तोः) प्राणी के (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुः प्रसादात्) बुद्धि के निर्मल होने से (अक्रतुः) निष्काम (वीतशोकः) शोकरहित प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं महामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ—(आसीनः) बैठा हुआ ही (दूरम्) (व्रजति) पहुँचता है (शयानः) सोता हुआ (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तम्) उस (महामदम्) आनन्दरूप (देवम्) देव को (मदन्यः) मुझसे भिन्न (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने को (अर्हति) समर्थ है ॥ २१ ॥

अशरीरᳫ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अर्थ—(शरीरेषु) साकार पदार्थों में (अशरीरम्) निराकार (अनवस्थेषु) चलायमान (पदार्थों) में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

व्याख्या–परमाणु जो सूक्ष्म से सूक्ष्म समझा जाता है और ब्रह्माण्ड जो असीम और अपार माना जाता है, ईश्वर उनसे क्रमपूर्वक सूक्ष्म और महान् है। उसकी प्राप्ति के तीन साधन हैं–(१) निष्कामता, (२) शोक से रहित होना, तथा (३) बुद्धि की निर्मलता ।। २० ।।

ईश्वर के लिए जो "आसीनः" "व्रजति" और "शयानः" शब्द प्रयुक्त हुए हैं इनमें से आसीन और शयान उसकी अचलता और एकरसता प्रकट करने के लिए और "व्रजति" उसकी सर्वव्यापकता प्रकट करने के लिए है। भाव इनका यह है कि वह अचल और एकरस होते हुए भी, अपनी सर्वव्यापकता से, हर जगह पहुँचा हुआ है ।। २१ ।।

शोक निवृत्ति के लिए उस निराकार, अचल, महान् और व्यापक ईश्वर का ज्ञान अनिवार्य है ।। २२ ।।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ।। २३ ।।

अर्थ–(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) शिक्षा = बहुत पढ़ लेने से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता (न, मेधया) बुद्धि से भी नहीं प्राप्त होता (न, बहुना, श्रुतेन) और न बहुत सुनने (उपदेश) से प्राप्त होता है (एषः) यह ब्रह्म (यम्) जिसको (एव) ही (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस (स्वीकार करने या छांट लेने) से (लभ्यः) प्राप्त होता है (एषः, आत्मा) वह, ब्रह्म (तस्य) उसके लिए (स्वाम्) अपने (तनूम्) स्वरूप को (विवृणुते) प्रकाशित कर देता है ।। २३ ।।

व्याख्या–परमेश्वर प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुत होने से नहीं प्राप्त होता, अर्थात् उसका प्राप्त होना, प्राप्त करने की इच्छा करने वालों के अधिकार में नहीं है किन्तु स्वयम् उस (ईश्वर) ही के अधिकार में है कि वह किसी को प्राप्त हो जाये। उपनिषद् की इस विलक्षण शिक्षा पर एक शंका जो उत्पन्न होती है। वह यह है कि ईश्वर क्या अन्धाधुन्ध किसी

को प्राप्त हो जाता है अथवा प्राप्त होने की कोई मर्यादा का नियम है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है कि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय ।।" (ऋ० ४/३३/११) अर्थात् यत्न करके थके बिना कोई ईश्वर की मित्रता प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं होता। इस शिक्षा का भाव यह है कि ईश्वर के निर्वाचन में आने का अधिकारी बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जितना अधिक से अधिक यत्न स्वयं कर सकता है, करके तब ईश्वर की दया की इच्छा रखे। एक आख्यायिका वेदान्त के ग्रन्थों में आई है जिसमें कहा गया है कि एक खड़ी हुई माता का छोटा पुत्र, अपने पाँवों से खड़ा होकर न चल सकने वाला, बालक उससे दूर खेल रहा था। बालक को भूख लगी तब वह माता की ओर घुटने के बल चला और माता के चरणों तक पहुँच गया। माता खड़ी हुई थी इसलिए यह उस छोटे से बालक की शक्ति से बाहर था कि वह अपना मुँह माता के स्तनों तक पहुँचाकर दूध पीकर अपनी भूख शान्त करे। अब वह सहायता के लिए आशा भरी दृष्टि से माता की ओर देखता है। माता के हृदय में दया के भाव जागृत होते हैं और वह बच्चे को गोद में उठाकर, दूध पिलाकर उसकी भूख शान्त कर देती है। इसी प्रकार जब मुमुक्षु अपहतपाप्मादि साधनों की पूर्ति करके हृदय-ग्रन्थि को काट देता है तब वह ईश्वर की दया का पात्र बनकर उसके प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया करता है। एक उर्दू के कवि ने इस भाव को इस प्रकार प्रकट किया है–

"मिलने न मिलने का तो वह मुख्तार आप है।
पर तुझको चाहिए कि तप्रो दौ[⊗] लगी रहे" ।। २३ ।।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।। २४ ।।

⊗ तप्र + दौ = दौड़ धूप, पुरुषार्थ

अर्थ—(दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (अविरतः) अस्थिर मन वाले, (एनम्) इस ब्रह्म को (न) प्राप्त नहीं होते (अशान्तः) चंचल चित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं प्राप्त करता (अशान्तमानसः) तृष्णा में फंसे हुए मन वाला (अपि) भी (न) नहीं प्राप्त होता (प्रज्ञानेन) प्रेरिता बुद्धि से (आप्नुयात्) प्राप्त होवे ।। २४ ।।

व्याख्या—दुश्चरित्रता, मन की चंचलता, संशय, अशान्ति तथा तृष्णा में फंसावट, ये सब या इनमें से कोई भी जिस व्यक्ति में होती है, स्पष्ट है कि उसका मन मलीन होता है। मन की मलीनता मनुष्य के भीतर सात्त्विक भावों की जागृति नहीं होने देती, वह सदैव तमोगुण के अन्धकार और रजोगुण के दलदल में फंसा रहता है। यह अवस्था ब्रह्म के समीप होने की नहीं है अपितु ब्रह्म से दूर करने का कारण है। इन विघ्न-बाधाओं को दूर करने को मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसकी बुद्धि, प्रेरिता बुद्धि बने, जो विघ्नों से दूर रहा करती है। जब उसकी बुद्धि सुधरने लगती है तो क्रमशः वह उस अवस्था को भी प्राप्त कर लेता है जिसमें उसका मन और बुद्धि सभी स्थिर हो जाती हैं। यही ईश्वर प्राप्ति के मार्ग की ओर मुँह फिर जाना कहा जाता है ।। २४ ।।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।। २५ ।।

अर्थ—(यस्य) जिसके (ब्रह्म) ब्राह्मण (ज्ञानवाला) (च) और (क्षत्रम्, च) क्षत्रिय (बलवान् भी) (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) उपसेचन (जल) (मृत्युः) मौत है (सः) वह ब्रह्म (यत्र) जहाँ है और (इत्था) ऐसा है (कः) कौन (वेद) जान सकता है ।। २५ ।।

व्याख्या—वह महान् ईश्वर जो ब्रह्माण्ड को प्रलयावस्था में पहुँचाकर सबको अपने भीतर जज्ब कर लेता है और मृत्यु को भी तेज रहित कर देता है, किसकी सामर्थ्य है कि उसे इन आँखों से देखकर बतला सके कि वह ऐसा है और यहाँ है।

वह तो आत्मा का विषय है इसलिए वेद ने उसको आत्मा के भीतर घुसकर ही प्राप्त करने का आदेश दिया है।

आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश ॥ (यजुर्वेद ३२/२१)

अर्थात् आत्मा के द्वारा ब्रह्म में प्रवेश करे।

वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत् ॥ (यजुर्वेद ३२/८)

अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदयाकाश) में देखता है। एक उर्दू के कवि ने लौकिक प्रेम में इसी भाव को बड़ी उत्तम रीति से प्रकट किया है–

वह दिन खुदा करे कि खुदा भी वहाँ न हो।
मैं हूँ, सनम❖ हो, और कोई दरमियां न हो ॥ २५ ॥

॥ द्वितीया वल्ली समाप्त ॥

❖ सनम – प्रेष्ठ, प्रियतम्।
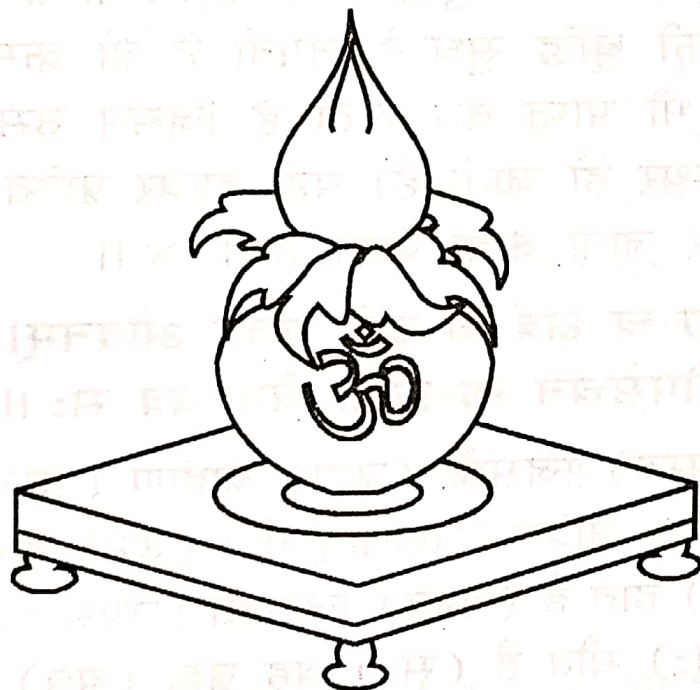
तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

अर्थ–(परमे) सर्वोत्तम (परार्द्धे) अन्तःशरीरस्थ (गुहां) हृदयाकाश में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) लोक में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुए (छायातपौ) छाया और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः)ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन बार नाचिकेत अग्नि का सेवन किये हुए (पञ्चाग्नयः) पञ्चयज्ञों के करने वाले (कर्मकाण्डी) हैं वे भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में जीव और ईश्वर दोनों के लिए द्विवचनान्त क्रिया आदि का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले और पृथक्-पृथक् हैं। उनको हृदयाकाश में प्रकाश और छाया की तरह स्थित बतलाते हुए दोनों का सम्बन्ध कर्म से जोड़ा गया है। अर्थात् एक (जीव) कर्म करके फल का भुगतने वाला और दूसरा (ईश्वर) साक्षी रहकर फल का देने वाला है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात्–अपने जैसे नित्य (प्रकृति रूप) वृक्ष पर स्थित दो पक्षी रूप (जीव और ईश्वर) हैं जिनमें से एक (जीव) वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को चखता है और दूसरा (ईश्वर) भोग न करता हुआ साक्षी मात्र है।

उपनिषद्वाक्य में 'पिबन्तौ' क्रिया का प्रयोग कर्म से दोनों (ईश्वर और जीव) का सम्बन्ध प्रकट कर देने और द्विवचन रूप में दोनों को पृथक्-पृथक् कर देने मात्र से है॥ १॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल (के समान है) (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यम्) जो (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहित (पारम्) (भवसिन्धु का) पार है, उस (परम्) सर्वोत्कृष्ट (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म को भी (शकेमहि) जान सकते हैं॥ २॥

व्याख्या—ईश्वर जो कर्म और ज्ञान सेवन करने वाले दोनों को पार लगाने वाला है, उसको योगी आत्मस्थ होकर जान लिया करते हैं—तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः॥ कठ० ५/१२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥

अर्थ—(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी-सवार (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ (जान) (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) लगाम (जान)॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन (इन्द्रियों) में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग (कहते हैं) (मनीषिणः) विचारशील पुरुष (आत्मा, इन्द्रिय, मनोयुक्तम्) इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

अर्थ–(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) अज्ञानी (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) हमेशा (युक्त) (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) रथवान् के (दुष्टाः, अश्वाः, इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होतीं॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥

अर्थ–(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) ज्ञानी (युक्तेन, मनसा) वश में रहने वाले मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (सारथेः) रथवान् के (सद् अश्वाः, इव) सुधरे हुए घोड़ों की तरह (वश्यानि) वश में होती हैं॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥७॥

अर्थ–(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) विवेक रहित (अमनस्कः) मन के पीछे चलने वाला (सदा) हमेशा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्) उस (पदम्) पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) बल्कि (संसारम्) जन्म मरण के प्रवाह रूपी संसार को (अधि गच्छति) प्राप्त होता है॥७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥

अर्थ–(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) विवेक सम्पन्न, (समनस्कः) मन को वश में करने वाला, (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्ध (भवति) होता है (सः) वह (तु) तो (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिससे (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता।॥८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

अर्थ–(यः तु) जो तो (नरः) मनुष्य (विज्ञानसारथिः) विवेक रूपी सारथि वाला और (मनः प्रग्रहवान्) मन की लगाम को अधिकार में रखने वाला (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वश्रेष्ठ (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है॥ ९॥

व्याख्या–इन श्लोकों में एक उत्तम अलंकार से बतलाया है कि ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी को किस प्रकार अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखना चाहिए जिससे वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सके।

कोई रथ जिसमें घोड़े जुते हों किस प्रकार अच्छा काम दे सकता है ? जब सवार का आज्ञानुवर्ती रथवान् हो और रथवान् के कब्जे में लगाम और घोड़े लगाम के इशारे से चलने वाले हों और घोड़े जिस सड़क पर चलते हैं वह अच्छी और निर्दिष्ट स्थान को ले जाने वाली हो।

ठीक ऐसा ही एक रथ मनुष्य का शरीर भी है। इस रथ को भी ऐसा ही होना चाहिए कि आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधिकार में इन्द्रियाँ हों। तभी यह रथ अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म मार्ग पर चलकर सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने का कारण बन सकता है। यह शरीररूपी रथ उपर्युक्त भाँति काम दे सके इसके लिए आवश्यक है कि आत्मारूपी सवार (मनुष्य) सावधान हो। यदि वह ज्ञानी है तो स्वयं न तो मन के पीछे चलेगा और न इन्द्रियों को दुष्ट घोड़ों की तरह बेकाबू होने देगा।

(२) चौथे उपनिषद् वाक्य में कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता कौन है इसका बड़ा उत्तम निर्णय किया है। उपनिषद् ने स्थिर किया है कि आत्मा, मन और इन्द्रियाँ ये तीनों ही मिलकर कर्त्ता और भोक्ता हैं।

सांख्यदर्शन में कहा गया है कि–

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः।

अर्थात् कर्तृत्व आत्मा में नहीं है किन्तु अहंकार[⊗] में है। फिर गीता में कहा है–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ गीता ३/२७

अर्थात् कर्म को प्रकृति के गुण (सत्त्व, रज और तम) करते हैं परन्तु अहंकार से मूढ़ हुआ जीव अपने को कर्त्ता मानता है। सांख्य और गीता के इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट है कि दोनों ने कर्तृत्व प्रकृति में माना है परन्तु विचारणीय बात यह है कि किस प्रकृति में इन्होंने कर्तृत्व का आरोप किया है? उत्तर साफ है कि प्रकृति के उसी भाग में चाहे वह अहंकार के रूप में हो, चाहे प्रकृति के गुणों, सत्व, रज और तम के रूप में हों, जो मनुष्य के शरीर के रूप में है, और जिसका सम्बन्ध किसी जीवात्मा से है, कर्तृत्व माना गया है। यदि कर्तृत्व प्रकृति मात्र में होता तो मकानों के खम्भे आदि भी प्राणियों की तरह से चलते-फिरते और हमसे बातचीत करते परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए कर्तृत्व आत्मा से सम्बन्धित शरीर ही में मानने के लिए विवश होना पड़ता है। उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में शरीर के स्थान में मन और इन्द्रिय कहा गया है। चाहे आत्मा से सम्बन्धित शरीर (मन + इन्द्रिय) कह लिया जावे या आत्मा और मन, इन्द्रिय कह लिया जावे, बात दोनों अवस्थाओं में एक ही है, कर्तृत्व वहीं हो सकता है जहाँ तीनों आत्मा, मन और इन्द्रिय इकट्ठे हों। इस प्रकार उपनिषद् गीता तथा सांख्य के वाक्यों में संगतिकरण हो जाता है और उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

⊗ सूक्ष्म भूत जिसकी उत्पत्ति महत्तत्व के बाद होती है और जिस की उत्पत्ति के बाद ही से व्यक्तित्व (Individuality) की सत्ता स्थिर होती है। मैं और मेरेपन के भाव भी इसी अहंकार की उपज हैं।

(३) शरीर को रथ कहे जाने का अलंकार अथर्ववेद में भी आया है। वहाँ कहा गया है–

आरोह इमम् अमृतं सुखं रथम् ॥ (अथर्व० ८/९/१६)

अर्थात् इस शरीर रूपी रथ पर जो अमृत और सुख है, चढ़ो। शरीर (मनुष्य योनि) प्रवाह से नित्य है इसलिए उसे अमृत कहना ठीक ही है। दूसरा विशेषण जो "सुख" है, बड़े महत्त्व का है। सुख शब्द के अर्थ सु = अच्छी + खम् = इन्द्रियाँ, अर्थात् शरीर रूपी रथ कैसा होना चाहिए इसको वेद ने कह दिया है कि अच्छी इन्द्रियों वाला, तभी उससे मुमुक्षु अमरता = मोक्ष और सुख (आनन्द) प्राप्त कर सकता है। सुख और दुःख का कारण स्वयं इन्हीं शब्दों "सुख" के अन्दर मौजूद है अर्थात् यदि अच्छी इन्द्रियाँ हैं तो मनुष्य सुखी है यदि बुरी इन्द्रियाँ हैं तो दुःखी ॥ ३-९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

अर्थ–(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम) सूक्ष्म है (च) और (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महानात्मा) महत्तत्व बुद्धि का कारण (परः) सूक्ष्म है ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

(महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) कारण रूप अप्रकट प्रकृति (सूक्ष्म है) (अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ नहीं (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की शोभा है (सा) वहीं (परा, गतिः) अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इन वाक्यों में, मनुष्य के ध्येय ब्रह्मविद्या की उपलब्धि के लिए, ब्रह्म का पता देते हुए उसकी ओर चलने का निर्देश किया गया है– आत्मा के बाहर स्थूल

प्रकृति और अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म है। इसलिए स्थूल को क्रमशः छोड़ते हुए सूक्ष्मता की ओर चलने ही से उसकी प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रिय, उसके विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्व और अव्यक्त–अप्रकट प्रकृति एक–दूसरे से क्रमशः सूक्ष्म हैं। स्थूल जगत् में सबसे अधिक सूक्ष्म प्रकृति है। प्रकृति तक मनुष्य के शरीर में जिसका नाम कारण शरीर है पहुँचकर ब्रह्मविद्या का पथिक, अपनी आधी मंजिल (बहिर्मुखी वृत्ति की समाप्ति द्वारा) समाप्त कर लेता है। अब उसको उस कारण शरीर रूपी प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म पुरुष (ब्रह्म) की ओर जीव की अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति के द्वारा, चलना पड़ता है। यही मनुष्य के पुरुषार्थों की चरम सीमा है, इससे आगे अथवा इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं है ।। १०–११ ।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। १२ ।।

अर्थ–(सर्वेषु) सब (भूतेषु) पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) सूक्ष्म आत्मा (न, प्रकाशते) नहीं प्रकाशित होता (तु) किन्तु (अग्रयया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है ।। १२ ।।

यच्छेद्वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। १३ ।।

(प्राज्ञः) ज्ञानी पुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) जोड़े (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के साधन बुद्धि में (यच्छेत्) ठहराये (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति आत्मनि) महत्तत्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ।। १३ ।।

व्याख्या–इस सूक्ष्म पुरुष को, जिसका उपनिषद्वाक्य संख्या १०, ११ में वर्णन हुआ है, कोई भी व्यक्ति जगत् के स्थूल पदार्थों में इन्द्रियों द्वारा नहीं देख सकता। इसको कोई

सूक्ष्मदर्शी जिज्ञासु अपनी बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म निर्मल बना कर (अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति द्वारा) ही साक्षात् कर सकता है, उसकी ओर चलने अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का मार्ग बाहर से भीतर की ओर चलना है जिसका क्रम यह है कि वाणी (आदि समस्त इन्द्रियों) को जिज्ञासु मन में लगा देवे जिससे इस प्रकार भीतर चलने से वे बाहर अपने विषयों की ओर न जा सकें, मन को अपने से सूक्ष्म बुद्धि में लगाये, बुद्धि को अपने कारण महत्तत्व में लगा देवे और इस बुद्धि के कारण महत्तत्व को आत्मा में लगा देवे। आत्मा में उसके लगाने का अभिप्राय यह है कि अब अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हुई और आत्मा बाहर का काम बन्द करके आत्मसाक्षात्कार में लग गया ।। १२-१३ ।।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

अर्थ–(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) इष्ट इच्छाओं को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो (निशिता) तेज (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य, धारा) छुरे की धार के समान (कवयः) सूक्ष्मदर्शी लोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ।। १४ ।।

व्याख्या–यह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग अत्यन्त कठिन है इसीलिए आत्मदर्शी लोग इस मार्ग को छुरे की धार पर चलने के सदृश बतलाते हैं। इसी उद्देश्य से इस उपनिषद्वाक्य में जिज्ञासु को सावधान होकर कार्य करने की चेतावनी दी गई है ।। १४ ।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अर्थ–(यत्) जो (ब्रह्म) (अशब्दम्) शब्द नहीं, जो कान से जाना जावे, (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं, जो त्वचा से ग्रहण

किया जाये, (अरूपम्) रूप नहीं, जो आँख से देखा जा सके, (तथा) इसी प्रकार (अरसम्) रस नहीं, जो जिह्वा से चखा जा सके (च) और (अगन्धवद्) गन्ध वाला नहीं, जो नाक से सूंघा जा सके। (अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एकरस (अनादि) अनुत्पन्न (अनन्तम्) सीमा रहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उसको (निचाय्य) निश्चयात्मक रीति से जानकर (मृत्यु) मौत के (मुखात्) मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—ईश्वर की उपासना दो प्रकार की है—**(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।** इनमें से **सगुणोपासना** वह है जिसमें प्रभु के सत्तात्मक दिव्य गुणों को धारण करके मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ईश्वर के समीप होकर[⊗] आनन्द प्राप्त करता है और **निर्गुणोपासना** वह है जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर के निषेधात्मक गुणों को, अपने भीतर से निकालकर मौत के बन्धन से छूटा करता है। यह उपनिषद्वाक्य निर्गुणोपासनापरक है। इसीलिए इसमें ईश्वर के शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूप रहित अविनाशी, रसना रहित, गन्धरहित, अनादि अनन्तादि निषेधात्मक गुणों का वर्णन करते हुए शिक्षा दी गई है कि इनका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करके मुमुक्षु अपने को मृत्यु के मुख से बचा लेवे। यदि ईश्वर को केवल निर्गुण माना जावे तो उपासक के पास से कुछ जा तो सकता है परन्तु उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है—

गर हुस्न न हो इश्क भी पैदा नहीं होता।
बुलबुल गुले तसवीर पै शैदा नहीं होता ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

[⊗] सगुणोपासना का अभिप्राय जानने के लिए देखो इसी उपनिषद् की पाँचवीं वल्ली का वाक्य ११ व्याख्या सहित।

अर्थ–(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) पुराने (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा)कहकर (च) और (श्रुत्वा) सुनकर (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई पाता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते ॥ १७ ॥

अर्थ–(यः) जो कोई (प्रयतः) सावधान होकर (इमम्) इस (परमम्) अत्यन्त (गुह्यम्) गुप्त शिक्षा को (ब्रह्मसंसदि) विद्वानों की सभा में (वा) या (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किये जाने वाले कार्यों के समय में (श्रावयेत्) सुनाये (तत्) वह (आनन्त्याय) असीम फल की प्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या–ये वाक्य, ग्रन्थ की समाप्ति पर फलश्रुति के सदृश प्रयुक्त हुए वाक्यों की तरह के प्रतीत होते हैं। 'प्रयतः' को 'प्रेत्य' अथवा 'प्रेत' जिस धातु से बने हैं उसी धातु से बना बतलाकर कुछ विद्वान् उसके अर्थ 'मरते समय' करते हैं। उनका कहना है कि यह समय छल और दम्भ से रहित होने का समय होता है। इसमें मनुष्य के मुख से वही बातें निकलती हैं जो उसने इससे पूर्व के जीवन में की होती हैं। इसलिए यह मरने का समय श्रद्धा = सच्चाई के धारण करने से श्रद्धाकाल भी कहा जाता है। भाव यह है कि जब मरने वाले की यह अवस्था आ जाये तब उसे यम का उपदेश किया हुआ नचिकेता का उपाख्यान सुनाना चाहिये जिससे मृत्यु की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करके वह उसके भय से स्वतन्त्र हो जावे। कुछ इसी प्रकार की ध्वनि पारस्कर गृह्यसूत्र के इस वचन से निकलती है–"यमगाथां मान्यतो यमसूक्तञ्च जपन्त इत्येके ॥" (का० कण्डिका १०, सूत्र ९) अर्थात् कुछ विद्वान् अन्त समय यम की गाथा गायन करते और यमसूक्त को जपते हैं। यह कथन भी स्वीकार किया जा सकता है ॥ १६, १७ ॥

॥ तृतीया वल्ली समाप्त ॥

चतुर्थी वल्ली

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

अर्थ–(स्वयम्भूः) अपनी ही सत्ता से स्थित रहने वाले (परमात्मा) ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इसलिए मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकी पुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) हृदयाकाशस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) देखता (साक्षात् करता) है ॥ १ ॥

व्याख्या–इन्द्रियों का स्वभाव ही बाहर की ओर चलने का है। फिर इनके पीछे चलकर स्पष्ट है कि कोई भी आत्मद्रष्टा नहीं बन सकता। आत्मदर्शन भीतर घुसे बिना नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अर्थ–जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्य (कामान्) विषयों के (अनुयन्ति) पीछे दौड़ते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुए (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं (अथ) और (धीराः) ज्ञानी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जान कर (इह) संसार में (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में (न, प्रार्थयन्ते) (सुख को) नहीं चाहते ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वैतत् ॥ ३ ॥

(येन) जिस (एतेन, एव) इस ही (आत्मा की सत्ता) से मनुष्य (रूपम्) रूप, (रसम्) रस, (गन्धम्), गन्धः, (शब्दान्) शब्द, (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) विषय-भोगों को भी (विजानाति) जानता है, फिर (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) बाकी रह जाता है (एतद्, वै, तद्) यही आत्मा है ॥ ३ ॥

व्याख्या—अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयों की ओर चलकर मृत्यु के फैले हुए जाल में फंसते हैं, परन्तु जो ज्ञानी हैं वे इन विषय-वासनाओं से अमरता की आशा नहीं करते ॥ २ ॥ जिससे संसार में मनुष्य इन्द्रियों के विषय शब्दादि का ज्ञान प्राप्त किया करता है वह आत्मा है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

अर्थ—(येन) जिससे (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जागृत के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) देखता है उस (महान्तम्) सबसे बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से शोकित नहीं होता ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः) जो कोई (इमम्) इस (मध्वदम्), कर्मफलभोक्ता (जीवम्) जीव के (अन्तिकात्) समीपवर्ती (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उससे (न, विजुगुप्सते) भय को प्राप्त नहीं होता (एतद्, वै तत्) यही वह (ब्रह्म) है ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत् ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

अर्थ–जीवात्मा (यः) जो (अद्भ्यः) पञ्चभूतों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुआ (तपसः) प्रकाश = ज्ञान से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) उत्पन्न (गुहाम्) हृदयाकाश में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) पञ्चभूतों के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत्) देखता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

अर्थ–(या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्ता (अदितिः) अखण्डिता = बुद्धि (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुए (गुहाम्) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) ५ भूतों = शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है (एतत्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्मज्ञान का साधन बुद्धि) है ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

अर्थ–(जागृवद्भिः) ज्ञानियों (हविष्मद्भिः) कर्मकाण्डी (मनुष्येभिः) मनुष्यों से भी (अग्नि) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार रक्षित (गर्भः, इव) गर्भ के समान अथवा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः) अग्निः के (इव) समान (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति करने के योग्य है (एतद्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

अर्थ–(यतः) जहाँ से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जहाँ (अस्तम्) अस्त (गच्छति) होता है (तम्) उस (परमात्मा) को (सर्वे, देवाः) सारे

(सूर्यचन्द्रादि) देव (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतद्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

अर्थ–(यत्) जो ब्रह्म (इह) यहाँ है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) वहाँ = परलोक में है (यत्) जो (अमुत्र) वहाँ परलोक में) है (तत्) वही (अनु, इह) यहाँ है (यः) जो (इह) इस ब्रह्म में (नाना इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

अर्थ–(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) मन (आन्तरिक साधनों) से ही (आप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य है, (इह) (ब्रह्म) में (नाना) भेदभाव (किञ्चन) कुछ भी (न अस्ति) नहीं है (यः) जो कोई (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

अर्थ–(भूत, भव्यस्य) हुए और होने वाले (जगत्) का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (आत्मनि) जीवात्मा के (मध्ये) मध्य में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उस (के ज्ञान) से (न, विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतद्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

अर्थ–(अङ्गुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदयाकाश में रहने वाला (पुरुषः) परिपूर्ण (ब्रह्म) (अधूमकः) धूम्र (विकार) रहित (ज्योतिः इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले (संसार) का (ईशानः) स्वामी है (सः, एव) वही (अद्य) आज (सः, उ) वही (श्वः) कल है (एतद्, वै तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (दुर्गे) विषम देश में (वृष्टम्) बरसा हुआ (उदकम्) जल (पर्वतेषु) नीची जगहों की ओर (विधावति) बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को (गुणी से) (पृथक्) पृथक् (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन्हीं गुणों के (अनु विधावति) पीछे दौड़ता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

अर्थ–हे (गौतम) नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ (सम) देश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुआ (तादृक् एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) ज्ञानी (मुनेः) मननशील (मनुष्य) का (आत्मा) आत्मा (भवति) हो जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या–इन उपनिषद्वाक्यों में ब्रह्म का निरूपण किया गया है। जिनके भली-भाँति समझ लेने से ब्रह्म की कुछ महिमा समझी जा सकती है। उनका संक्षिप्त रीति से यहाँ वर्णन किया जाता है–

जिसकी महिमा से मनुष्य जागृत और स्वप्न अवस्थाओं को बार-बार प्राप्त करता है। उस महान् और व्यापक ब्रह्म को जानकर मनुष्य दुःखों से छूटता है ॥ ४ ॥

इस कर्म भोक्ता जीव के समीपवर्ती ब्रह्म को जो समस्त भूतों और भविष्यत् का स्वामी है, जानकर मनुष्य निर्भीक हो जाता है ॥ ५ ॥

जीवात्मा, जो भौतिक शरीर की उत्पत्ति से भी पहले से स्थित है, जब वह अन्तर्मुखी वृत्ति वाला होकर हृदयस्थित परमात्मा का साक्षात् कर लेता है तो उसे प्रकट हो जाता है कि यही वह प्रिय देव है जिसका प्राप्त करना इष्ट था ।। ६ ।।

जब योगी की ब्रह्म प्राप्ति की साधिका बुद्धि, प्रकाशमयी और एकरस रहने वाली होकर हृदय में प्रकट होने वाली हो जाती है तभी वह आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का कारण बन जाती है ।। ७ ।।

अरणियों में अग्नि जिस प्रकार छिपी रहती है और जिस प्रकार माता के गर्भ की रक्षा करती है उसी प्रकार ब्रह्म को हृदय में स्थित समझ और उसे अपना प्रेमपात्र बनाकर ज्ञानकाण्डी और कर्मकाण्डी, कोई क्यों न हो, प्रत्येक को, प्रतिदिन स्तुति करनी चाहिए ।। ८ ।।

सूर्यादि का उदय व अस्त होना ईश्वर सत्ता के कारण है, ऐसे ब्रह्म का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ।। ९ ।।

लोक-परलोक सब जगह एक ही ब्रह्म का साम्राज्य है। जो कोई एक जगह के ब्रह्म को और, और जगह के ब्रह्म को दूसरा समझता है, ऐसा अज्ञानी पुरुष मृत्यु के बन्धन से मुक्त नहीं होता ।। १० ।।

वह ब्रह्म अन्तर्मुखी होने ही से प्राप्त होता है। उसमें किसी को भिन्नता (देखो श्लोक १०) नहीं देखनी चाहिए ।। ११ ।।

अंगूठे के बराबर मात्रा वाले हृदयाकाश में स्थित जीव के मध्य ब्रह्म का निवास है (अर्थात् यही स्थान है जहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ करता है) उस ब्रह्मज्ञान को पाकर मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है ।। १२ ।।

उपर्युक्त अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदय में रहने वाला विकाररहित ज्योति के सदृश ब्रह्म सबका स्वामी और सदैव एक रस रहने वाला है ।। १३ ।।

गुण और गुणी में समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है। **अर्थात्** गुणी से गुण और गुण से गुणी पृथक् नहीं हो सकता।

इसी नियम के अनुसार ईश्वर के जग रचना आदि गुण भी ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकते। जहाँ जग रचना आदि गुण हों वहाँ ईश्वर की सत्ता मानना अनिवार्य है। परन्तु जो ईश्वर के गुण (धर्म) जग रचना आदि को तो मानते हैं और स्वीकार करते हैं किन्तु रचा हुआ जगत् मौजूद है परन्तु उसके रचयिता की सत्ता स्वीकार नहीं करते, उपनिषद् कहती है कि ऐसे लोग उन धर्मों के पीछे दौड़ते अर्थात् जगत् में ही भटकते रहते हैं।। १४ ।।

जल जिस स्थान में होता है उसी के सदृश दिखाई दिया करता है। यदि गोल हौज में है तो गोल, यदि विषमकोण सरोवर में है तो वैसा ही होकर दिखाई दिया करता है। यम नचिकेता से कहता है कि इसी प्रकार समता प्राप्त कर ज्ञानी का आत्मा हो जाया करता है।। १५ ।।

॥ चतुर्थी वल्ली समाप्त ॥
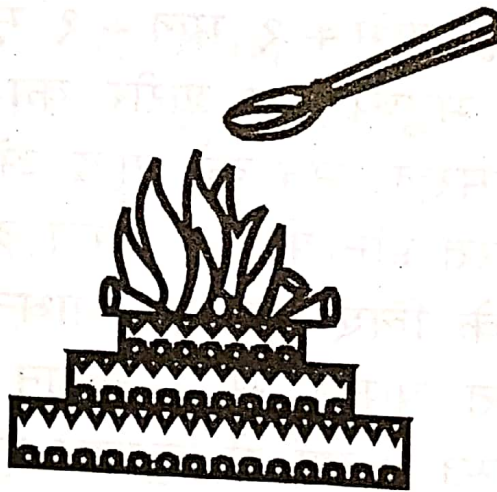
पञ्चम वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अर्थ—(अवक्र-चेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न = जीवात्मा के (एकादश द्वारम्) ग्यारह द्वार वाले (पुरम्) नगर (शरीर) को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुआ (विमुच्यते) छूट जाता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस शरीर को कहीं नव द्वार वाला और कहीं ग्यारह (११) द्वार वाला कहा जाता है। यहाँ ११ द्वार वाला कहा गया है। (१ सिर + २ आँख + २ कान + २ नासिका छिद्र + १ मुख + १ नाभि + १ मल + १ मूत्र स्थान—ये ११ द्वार हैं)। जिस समय मनुष्य इस शरीर का सदुपयोग करता है, अर्थात् बुद्धि को सरल, मन को शुद्ध और चित्त को चंचलता रहित बनाकर समस्त इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखता है तब यह शरीर मनुष्य के लिए सुख का साधन⊗ बनता है और ऐसे शरीर को उपरोक्त प्रकार से अनुष्ठान करते हुए जब वह छोड़ता है तो समस्त दुःखों से छूटकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर भी मुक्ति का असाक्षात् साधन है ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥

⊗ "सुख" दो शब्द सु + ख से मिलकर बना है। सु = अच्छा + ख = इन्द्रिय अर्थात् "सुख" नाम ही अच्छी इन्द्रियों का है। इस प्रकार दुःख (दु = बुरी + ख = इन्द्रिय) बुरी इन्द्रियों को कहते हैं।

अर्थ–(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीव, (शुचिषद्) शुद्ध देश में स्थित, (वसुः) (योनियों में) वास करने वाला (अन्तरिक्षसद्) अन्तरिक्ष में रहने वाला (होता) यज्ञकर्ता (वेदिषत्) स्थलचारी, (अतिथिः) अतिथि के सदृश कुछ समय के लिए आने वाला, (दुरोणसत्) कुटी में रहने वाला, (नृषत्) मनुष्य शरीरधारी, (वरसत्) श्रेष्ठ शरीरधारी, (ऋतसत्) नियम में रहने वाला, (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला (अब्जाः) जलचर, (गोजाः) पृथ्वी में उत्पन्न होने वाला (वृक्षादि), (ऋतजाः) नियम से उत्पन्न होने वाला (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला, (ऋतम्, बृहत्) मर्यादाशील है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

अर्थ–(जो साधक) (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उन्नयति) ले जाता है, (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) नीचे (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच (हृदयाकाश) में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) श्रेष्ठ जीव को (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) इन्द्रियाँ और प्राण (उपासते) सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अर्थ–(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) आत्मा के (विस्रंसमानस्य) विध्वंस होते हुए (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुए (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

अर्थ–(कश्चन) कोई भी मनुष्य (न प्राणेन) न प्राण से और (न अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (इतरेण) इन दोनों से भिन्न जीव के कारण (जीवन्ति) जीते हैं (यस्मिन्) जिस जीव के (एतौ) ये दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या–इन चार वाक्यों में जीवात्मा का वर्णन है। आवागमन में रहकर जीव अपने कर्मफलानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जाया करता है। जीव जहाँ-जहाँ रहा करता है उनमें से कुछेक के नाम इस वाक्य में गिनाए गए हैं।

यहाँ जीव हंस दो दृष्टि से कहा गया है–(१) जीव भी हंस की तरह एक जगह से दूसरी जगह जाया करता है, (२) हंस जिस प्रकार कवियों के कथनानुसार दुग्ध मिश्रित जल से दुग्ध पृथक् कर लिया करता है इसी प्रकार जीव भी प्रकृति रूपी जल से ब्रह्मरूपी दुग्ध को पृथक् करके हंस ही नहीं किन्तु परमहंस कहलाया करता है ॥ १ ॥

जीव प्राण और अपान से काम लेता हुआ शरीर के मध्य में रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसकी आज्ञाओं का पालन करती हैं ॥ २ ॥

जीव के शरीर छोड़ देने के बाद वह शरीर निकम्मा रह जाता है ॥ ३ ॥

शरीर में जीव के आश्रित प्राण और अपान रहते हैं और शरीर में जीव के रहने ही से उनका (तथा अन्य इन्द्रियों का) जीवन रहता है ॥ ४, ५ ॥

नोट–यहाँ यद्यपि प्राण और अपान दो ही कहे गए हैं, परन्तु मुख्य प्राण १० हैं–(१) प्राण = रेचक, (२) अपान = पूरक, (३) समान = शरीर में रस पहुँचाना, (४) उदान = कण्ठ से

---

१. एक कवि ने कहा है–"सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ अर्थात् जैसे जल में से हंस दुग्ध निकाल लेता है इसी प्रकार बुद्धिमान् सार ग्रहण करके (फल्गु) सारहीन वस्तु को छोड़ देता है।

२. यह वाक्य यजुर्वेद का मन्त्र है और उस वेद में दो जगह १०/२४, १२/१४ में आया है।

३. जीव का २४ प्रकार का सामर्थ्य है–(१) बल, (२) पराक्रम, (३) आकर्षण, (४) प्रेरणा, (५) गति, (६) भीषण, (७) विवेचन, (८) क्रिया, (९) उत्साह, (१०) स्मरण, (११) निश्चय, (१२) इच्छा, (१३) प्रेम, (१४) द्वेष, (१५) संयोग, (१६) विभाग, (१७) संयोजक, (१८) विभाजक, (१९) भाषण, (२०) स्पर्शन, (२१) दर्शन, (२२) स्वादन, (२३) गन्धग्रहण, (२४) ज्ञान।

अन्नपान खींचना, (५) व्यान = समस्त शरीर में रक्त में संचारक, (६) नाग = अनिश्चित कै तथा दस्त का साधक, (७) कूर्म्म = पलक मारने आदि का कारण, (८) कृकल = भोजन तथा पान की इच्छा से सम्बन्धित, (९) देवदत्त जम्हाई आदि का हेतु, (१०) धनञ्जय = मूर्च्छा, बेसुध होना, सोना तथा खर्राटा लेने का कारण। एक जगह लिखा भी है–

नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयरूपाः पञ्च वायवः एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलनक्षुधाजननविजृम्भणमोहरूपाणि।

(संगीतदर्पण अध्याय १ श्लोक ४३-४८ Raja Surinder Mohan Tagore's Edition)

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

अर्थ–(गौतम) नचिकेता! (हन्त) प्रसन्नतापूर्वक (ते) तेरे लिए (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातन) अनादि (ब्रह्म) विद्या को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ–(अन्ये) कोई (देहिनः) जीव (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिए (योनिम्) जंगम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) और कोई (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) जाते हैं (यथाकर्म) अपने-अपने कर्म (यथाश्रुतम्) अपने-अपने ज्ञान के अनुसार ॥ ७ ॥

व्याख्या–इतनी भूमिका के बाद यम अब नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर देता है। नचिकेता का तीसरा प्रश्न यह था कि मरने के बाद जीव बाकी रहता है या शरीर के साथ वह भी नष्ट हो जाता है? इसका उत्तर यम ने दिया कि मरने के बाद जीव अपने कर्मानुसार जंगम और स्थावर योनियों को प्राप्त हुआ करता है, अर्थात् बाकी रहता है। शरीर के साथ नष्ट नहीं हो जाता ॥ ६, ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥८॥

अर्थ–(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) सबमें व्याप्त (परमेश्वर) (कामं कामं) यथेच्छ (निर्मिमाणः) (ब्रह्माण्ड को) रचता हुआ (सुप्तेषु) सोए हुए (जीवों में) (जागर्ति) जागता है (तद्, एव) वही (शुक्रम्) पवित्र (तद् ब्रह्म) वही सबमें बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी (ब्रह्म) में (सर्वे लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुए (तद्, उ) उसका (कश्चन) कोई भी (न अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतद्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है॥८॥

व्याख्या–मनुष्य चाहे सो जाए या मूर्छित हो जाए अथवा किसी प्रकार से अपने होश में न रहे तब भी उसके शरीर में व्यापक ईश्वर जागता रहता है और यथेच्छ रचना करता रहता है। यही शुक्र, ब्रह्म और अमृत है, समस्त ब्रह्माण्ड उसी के आश्रित है। कोई भी प्राणी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥९॥

अर्थ–(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक अग्नि (भुवनम्) लोक-लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुआ (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला(बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी परमात्मा (रूपम्, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) सदृश रूप वाला है (च) परन्तु (बहिः) वह इन सबसे पृथक् ही है॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥१०॥

अर्थ–(यथा) जिस प्रकार (एकः वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुआ (रूपं रूपम्) प्रत्येक

रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब भूतों में व्याप्त ईश्वर (रूपम् रूपम्) प्रत्येक के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला है (च) किन्तु (बहिः) रहता वह सबसे पृथक् ही है ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आँख है परन्तु (चाक्षुषैः) आँखों के (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से (सर्वभूतान्तरात्मा) सब व्यापक परमात्मा (लोक–दुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता किन्तु (बाह्यः) उनसे पृथक् ही रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इन तीन वाक्यों में ब्रह्म व्यापकत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है–अग्नि और वायु जगत् में परिपूर्ण हैं और ये जिस वस्तु के भीतर होते हैं उसी के आकार में दिखाई देते हैं। जैसे प्रकाश या वायु एक घर में हैं तो घर के आकारवत् ही दिखाई देते हैं यदि किसी पात्र घड़े आदि में हैं तो उसी की तरह नजर आने लगते हैं, इसी तरह से ब्रह्म जगत् में अपने व्यापकत्व से जिस वस्तु में रहता है उस–उस वस्तु के तुल्य रूप वाला होता है। परन्तु उस वस्तु से सदैव पृथक् रहता है। न ब्रह्म उसमें लिप्त होता है न वह वस्तु ब्रह्म में लिप्त हो सकती है। इसी लिप्त न होने की बात को स्पष्ट करने के लिए एक और उपमा दी गई है कि आँखों में देखने की योग्यता सूर्य से आती है। इसलिए कहा गया है कि समस्त लोक का चक्षु होते हुए भी जिस प्रकार सूर्य आँखों के बाह्य विकारों से पृथक् रहता है उसी प्रकार जगत् पिता संसार की निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु में व्याप्त होते हुए भी, उसके समस्त विकारों से पृथक् रहता है ॥ ९, १०, ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अर्थ–(एकः) एक (वशी) सबको वश में रखने वाला

(सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी (य) जो (एकं रूपं) एक रूप वाली (प्रकृति) को (बहुधा) बहुत प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) धीर पुरुष (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित (परमात्मा) को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) चिरकाल तक रहने वाला (सुखम्) सुख (प्राप्त होता है) (इतरेषाम् न) अन्यों को नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

अर्थ–(नित्यानाम्) नित्य (पदार्थों) में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतों में (एकः) एक है (यः) जो [जीवों के प्रति] (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता-देता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित [परमात्मा] को (यें) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (जान जाते हैं) (तेषाम्) उनको (शाश्वती) चिरस्थायिनी (दीर्घकालीन) (शान्तिः) शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम् न) अन्यों (अज्ञानियों) को नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इन वाक्यों में ईश्वर की सगुणोपासना* वर्णित है। इन वाक्यों में ईश्वर के सत्तात्मक गुणों का वर्णन है। ईश्वर एक है, सब को वश में रखने वाला और समस्त भूतों में आत्मा के सदृश व्यापकत्व से मौजूद है और एक प्रकृति से जगत् की असंख्य रचनाएँ करता है, नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है। ऐसे असंख्य गुणों से भूषित ईश्वर के गुणों को जब मुमुक्षु अपने हृदय में धारण कर लेता है और अन्तर्मुखी होकर आत्मसात् करता है जब उसे चिरकाल तक रहने वाला सुख और शान्ति प्राप्त होती है।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

---

* निर्गुणोपासना इसी उपनिषद् के ३-१५ में वर्णित है। वहाँ उस वाक्य की व्याख्या को देखो।

अर्थ–जिस (परमम्) महान (सुखम्) सुख रूप (परमात्मा) को (तत्) वह (एतत्) यह (इतिं) ऐसा है (अनिर्देश्यम्) अंगुली उठाकर बताने के अयोग्य (मन्यते) मानते हैं (तम्) उस को (कथम्, नु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं कि (उ) वह (किम्) किस प्रकार (भाति) प्रकाशित होता (वा) या (विभाति) प्रकाशित करता है ।। १४ ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। १५ ।।

अर्थ–(तत्र) उस (ब्रह्म) में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाशित होता (न, चन्द्रतारकम्) न चन्द्रमा और तारे (इमाः) और ये (विद्युतः) बिजली भी (न, भान्ति) वहाँ नहीं चमकती फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि वहाँ (कुतः) कहाँ से (प्रकाशित हो सकती है) किन्तु (तम्) उस (एव) ही के (भान्तम्) प्रकाशित होने से (सर्वम्) ये सब (सूर्यादि) (अनुभाति) पीछे से प्रकाशित होते हैं (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (इदम्) यह (सर्वम्) सब (विभाति) प्रकाशित होता है ।। १५ ।।

व्याख्या–ब्रह्म सम्बन्धी बहुत सा उपदेश सुनने के बाद नचिकेता को यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जब ईश्वर को निर्देश करके बतलाने के अयोग्य कहा जाता है तब यह कैसे माना जाए कि वह प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करता है। इस सन्देह के निवारणार्थ उत्तर देता है कि वहाँ (जहाँ ब्रह्म साक्षात् हुआ करता है) सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् और अग्नि का प्रकाश निष्फल है, कुछ काम नहीं दे सकता। इसलिए इनमें से किसी के प्रकाश में इसे (ईश्वर को) देखने की इच्छा करना व्यर्थ है। हकीकत यह है कि उसी के प्रकाशित होने और उसी के दिये हुए थोड़े प्रकाश से किस प्रकार उस महान् और विलक्षण ज्योतिःपुञ्ज को कोई देख सकता है ? किसी कवि ने बहुत अच्छा कहा है–

हम ससीम हैं सीमित साधन धर सकते हैं।
क्योंकर उनसे असीम की नाप तोल कर सकते हैं ।।

।। पञ्चमी वल्ली समाप्त ।।

षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अर्थ—(ऊर्ध्वः) ऊपर (मूलः) जड़ और (अवाक्) नीचे को (शाखः) शाखाएँ हैं जिसकी, ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) कल ही कल ठहरने वाला [मनुष्य शरीर रूप] वृक्ष (सनातनः) [प्रवाह से] नित्य है। (तद्) उस [इस वृक्ष के रचयिता] को (एव) ही (शुक्रम्) जगत् का चैतन्य कारण (तद्) उसको (ब्रह्म) सबसे बड़ा (तत्, एव) उसीको (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहते हैं (तस्मिन्) उसी में (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (श्रिताः) ठहरे हैं (कश्चन) कोई भी (तत्) उसका (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं करता ।। १ ।।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर में सिर जड़ स्थानी है और हाथ, पांव आदि शाखाओं के सदृश हैं अर्थात् वृक्षों से मनुष्य शरीर की बनावट इस अंश में सर्वथा विपरीत है। इस वाक्य में शरीर को (अश्वत्थः) कल ही कल रहने वाला और साथ ही नित्य भी माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान मनुष्य शरीर तो स्पष्ट ही बहुत थोड़ी देर रहने वाला है परन्तु मनुष्य योनि जो कि सृष्टि काल में बराबर बनी रहती है और प्रलय के बाद फिर प्रकट हो जाती है, नित्य है। इसी का नाम प्रवाह से नित्य होता है ।। १ ।।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) जो (किञ्च) कुछ (जगत्) ब्रह्माण्ड है (इदम्) वह (सर्वम्) सब (प्राणे) परमात्मा में (एजति)

गतिमान् है और उसी से (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है, यह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में लिये वज्र के सदृश (महद्) महान् (भयम्) भय वाला है (ये) जो मनुष्य (एतद्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु के पार (भवन्ति) हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अर्थ–(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलती है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) प्रकाशित होता है (च) और (भयात्) भय से ही (इन्द्रः) बिजली (च) और (वायुः) वायु [अपना-अपना काम करते हैं] और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) मृत्यु (धावति) दौड़ता = अपना काम करता है ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

अर्थ–(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्थ) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहले (बोद्धुम्) (ब्रह्म को) जानने को (अशकत्) समर्थ हो (तो ठीक है, अन्यथा) (ततः) उस (न जानने) से (सर्गेषु) रचे हुए (लोकेषु) लोकों में (शरीत्वाय) शरीर धारण करने (जन्म मरण के चक्र में आने) के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या–प्रथम के दो श्लोकों में यह प्रकट किया गया है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, सर्वाधार होने से ब्रह्म के अन्तर्गत ही स्थित होता हुआ अपना कार्य कर रहा है और इस जगत् के प्रत्येक कार्य में जो नियम पाया जाता है वह नियम ईश्वर-प्रदत्त है और इस नियम को ठीक रीति से चलाने के लिए ईश्वर मानो वज्र हाथ में लिये सदैव (नियम भंग करने वालें को दण्ड देने के लिए) तैयार रहता है। तीसरे श्लोक में मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि शरीर छूटने से पहले आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ न हुआ तो उस जन्म-मरण के चक्र में ही रहना पड़ेगा। ईश्वरीय आज्ञाएँ दो प्रकार

की होती हैं। एक वे जिन्हें ईश्वर माता, पिता तथा सखा के रूप में, कर्म-स्वातन्त्र्य के कारण और ईश्वर-प्रदत्त नियमानुसार मनुष्यों को अधिकार होता है कि चाहे उसका पालन करें या न करें। (२) दूसरी आज्ञा नियम रूप में होती है कि जो जगत् और जगत्-सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए जगत् में प्रचलित की जाती हैं। इन्हीं का नाम प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) है। ये नियम अटल होते हैं। इन्हें कोई तोड़ नहीं सकता और इन्हीं के लिए उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में (देखो श्लोक २, ३) कहा गया है कि पालन कराने के लिए ईश्वर मानो हाथ में वज्र लिये हुए के सदृश है ॥ १-४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में (तथा) वैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न में (तथा) वैसे (पितृलोके) पितृलोक में (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) सब ओर से स्पष्ट (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके) गन्धर्व लोक में (ददृशे) (आत्मा) देखा जाता है, (छायातपयोः) छाया और प्रकाश के (इव) समान (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (देखा जाता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या–आत्मज्ञानार्थ उत्तम कर्म करते हुए मनुष्य की प्रारम्भ से अन्त तक चार अवस्थाएँ होती हैं–

(१) श्रेष्ठ ज्ञान और कर्मों से उसने अन्तःकरण को ऐसे बना लिया है जिसमें आत्मदर्शन कर सके।

(२) सकाम कर्म करते हुए पितृलोक (चन्द्रलोक) अर्थात् दुःख रहित, मनुष्य योनि में जाना, जिसमें जाना स्वर्ग-प्राप्ति कहा जा सके।

(३) निष्काम कर्म करते हुए देवयान का पथिक बनकर सूर्य लोक को प्राप्त कर लेना।

(४) अन्त में सूर्यलोक के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेना।

इन चारों अवस्थाओं में मुमुक्षु परमात्म-दर्शन किस प्रकार करता है इसी का विवरण इस उपनिषद् वाक्य में दिया गया है-

(१) शुद्ध अन्तःकरण में आईने में शक्ल देखने के सदृश।

(२) पितृलोक में स्वप्न की वस्तु देखने के सदृश।

(३) सूर्यलोक में जल के रूप में देखने की तरह और

(४) ब्रह्मलोक में स्पष्ट प्रकार से प्रकृति से पृथक् ब्रह्म को देखता है जिस प्रकार छाया से पृथक् प्रकाश हुआ करता है ब्रह्मलोक अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति की विशेषता है ।। ५ ।।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ।। ६ ।।

अर्थ-(पृथक्, उत्पद्यमानानाम्) पृथक्-पृथक् उत्पन्न किए हुए (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (पृथक् भावम्) पृथक् भाव को (च) और (यत्) जो उनके (उदय-अस्तमयौ) उदय (प्रारम्भ) और अस्त (अन्त) हैं इनको (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न, शोचति) शोक नहीं करता ।। ६ ।।

व्याख्या-इन्द्रियाँ बहिर्मुखीवृत्ति के साधन हैं। इनके द्वारा इनके विषय की ओर मनुष्य जा सकता है। इसलिए कहा गया है कि जो मनुष्य इन्द्रियों के आत्मा से पृथक्त्व और इन्द्रियों के उदय और अस्त अर्थात् इनके नाशवान् और उनके द्वारा प्राप्त विषय सुख के क्षणिक होने की हकीकत को समझ लेता है तब वह दुःखों से छूट जाता है ।। ६ ।।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।। ७ ।।

अर्थ-(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) बुद्धि (उत्तमम्) श्रेष्ठ है (सत्त्वात् अधि) बुद्धि से सूक्ष्म (उसका कारण) (महानात्मा) महत्तत्व (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) अप्रकट (प्रकृति) (उत्तमम्) उत्तम है ।। ७ ।।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अर्थ–(अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) व्यापक (च) और (अलिङ्ग) चिह्न रहित = निराकार (पुरुषः) (एकमात्र) ईश्वर (एव) ही (परः) सूक्ष्म है (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (दुःखों से) (मुच्यते) छूट जाता है (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या–ये उपनिषद्वाक्य इससे पहले ३/१०/११ में आये हुए भावों को ही प्रकट करते हैं। इनमें कहा गया है कि मनुष्य को अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर आत्मा की ओर चलना चाहिए–इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म उसका कारण महत्तत्व, महत्तत्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति (कारण शरीर) और प्रकृति से सूक्ष्म व्यापक और निराकार ईश्वर है। जब मनुष्य क्रमशः उपर्युक्त भाँति भीतर चलते हुए अन्त में जाकर ईश्वर को साक्षात् कर लेता है तब आवागमन के बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ ७, ८ ॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अर्थ–(अस्य) इस (ब्रह्म) के (सन्दृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इसको (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आँख से (न, पश्यति) नहीं देखता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभिक्लृप्तः) प्रकाशित होता है। (ये) जो कोई (एतत्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या–प्रभु के दर्शन के लिए हृदय के पटल खुलने चाहिएं–इन बाह्य आँखों से उसका रूप नहीं देखा जा सकता। वह प्रत्येक जगह मौजूद है। जहाँ भी मनुष्य उसे हृदय की

आँखों से देखना चाहता है, देखकर तृप्त हो जाता है। बाह्य आँखों का वह विषय नहीं है इसलिए उनसे देखने की इच्छा व्यर्थ है। एक कवि ने बहुत अच्छा कहा है–

नकाब[⊗] दूर है हर चन्द रूप[❖] लैला से।
कहाँ से लाए मगर कोई दीदए मजनूं ।।

अर्थात् यद्यपि लैला के मुँह पर परदा नहीं है परन्तु देखने के लिए तो मजनूं की आँखें चाहिएं ।। ९ ।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।। १० ।।

अर्थ–(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (मनसा) मन के (सह) साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) चेष्टा नहीं करती (ताम्) उसको (परमां गतिम्) परम गति = जीवनमुक्तावस्था (आहुः) कहते हैं ।। १० ।।

व्याख्या–इन्द्रियों का मन के साथ, अपना-अपना काम छोड़कर ठहर जाना बहिर्मुखी वृत्ति का बन्द हो जाना और अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत हो जाना है। इसी अवस्था का नाम उपनिषद् के शब्दों में परमगति है। परन्तु जब तक बहिर्मुखता बन्द नहीं होती, जिज्ञासु अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। कबीर ने इसी उच्चभाव को अपने मोटे शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है–

"भीतर के पट जब खुलें बाहर के हों बन्द" ।। १० ।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगी ही प्रभवाप्ययौ ।। ११ ।।

अर्थ–(स्थिराम्) स्थिरता से (ताम्) उस (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों को रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब योगी (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित (भवति) होता है (हि)

⊗ परदा, घूंघट
❖ रूप, मुँह

निश्चय (योगः) योग (प्रभवाप्ययौ) [शुद्ध संस्कारों का] उत्पन्न और [अशुभ संस्कारों का] अन्त करने वाला है ।। ११ ।।

व्याख्या—योग की कार्य-प्रणाली यह है कि प्रथम अभ्यासी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर चित्त को एकाग्र करे। इस एकाग्रता की उपलब्धि से योगी चुस्त और आलस्य से रहित हो जाता है। इस चित्त की एकाग्रता के बाद जब योगी चित्त के निरोध का यत्न करता है तो अभ्यास करने से उसके अन्दर 'ऋतम्भरा' बुद्धि की उत्पत्ति होती है।* इस बुद्धि से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्य संस्कारों का नाश कर देता है परन्तु स्वयं बना रहता है❖ जब अन्त में यह संस्कार भी नष्ट हो जाता है तब योग की अन्तिम (चित्त की निरुद्ध) अवस्था प्राप्त होकर योगी को कृतकृत्य कर देती है☹ उपनिषद् के इस वाक्य में (प्रभवाप्ययौ) शब्द से ऋतम्भरा की उत्पत्ति और उससे अन्य संस्कारों के नष्ट होने का संकेत किया गया है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।। १२ ।।

अर्थ—(न, वाचा) न वाणी से (न, मनसा) न मन से (न, एव) न ही (चक्षुषा) आँख से (प्राप्तुम्) प्राप्त होने (शक्यः) योग्य है (अस्ति, इति) है, ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुए (अन्यत्र) और कहाँ (तत्) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ।। १२ ।।

अस्तीत्येवोलपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।। १३ ।।

अर्थ—(उभयोः) (अस्ति, नास्ति) इन दोनों में (तत्त्वभावेन) तत्त्व की भावना से (अस्ति) है (इति) ऐसा (एव) ही (उपलब्धव्यः) जानने वाले का (तत्त्व-भावः) तत्त्वभाव❖ (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ।। १३ ।।

---

* योगदर्शन १/४८
❖ योगदर्शन १/५०
☹ योगदर्शन १/५१
❖ शरीर इन्द्रिय और आत्मा का समूह 'तत्त्वभाव' शब्द से अभिप्रेत है।

व्याख्या—यहाँ तक पहुँचने के बाद नचिकेता को फिर एक सन्देह उत्पन्न होता है और यमाचार्य उसको निवृत्त करते हैं।

शंका—जब ईश्वर वाणी, मन, चक्षु (आदि किसी भी इन्द्रिय) से प्राप्त नहीं हो सकता है तो फिर उसकी सत्ता स्वीकार करके उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?

समाधान—अस्ति और नास्ति इन दोनों में से ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अस्ति कहने वाले ही की बुद्धि आदि निर्मल होकर उसकी प्राप्ति का साधन बन जाती है ।। १२, १३ ।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। १४ ।।

अर्थ—(यदा) जब (सर्वे) सब (कामाः) वासनाएँ (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) रहती हैं। (प्रमुच्यन्ते) छूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) और (ब्रह्म) ब्रह्म को (समुश्नते) प्राप्त होता है ।। १४ ।।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। १५ ।।

अर्थ—(यदा) जब (इह) यहाँ (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे) सब (ग्रन्थयः) गांठें (प्रभिद्यन्ते) खुल जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही अनुशासनम् (शास्त्र का) उपदेश है ।। १५ ।।

व्याख्या—उपनिषद् को समाप्त करते हुए अन्त की बातें ही अन्त में कही जाती हैं—

जब चित्त के आश्रित वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और मनुष्य निष्काम हो जाता है तब मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर को प्राप्त कर लिया करता है। उपनिषद् कहती है कि शास्त्र इतना ही उपदेश कर सकता है अर्थात् यह शास्त्र का उपदेश किस प्रकार सार्थक हो सकता है इसके लिए जिज्ञासु को विशेषज्ञों का सहारा पकड़ना चाहिए। यह बतलाना शास्त्र की सीमा से बाहर की बात है ।। १४, १५ ।।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥१६॥

अर्थ–(हृदयस्य) हृदय की (शतम्, एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तिष्क में (अभिनिःसृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर से (आयन्) निकलता हुआ (जीवात्मा) (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य (१०० नाड़ियों द्वारा प्राण के साथ) (उत्क्रमणे) निकलने पर (विष्वङ्) विविध (गति) (भवन्ति) होती हैं॥ १६॥

व्याख्या–जब मनुष्य उपनिषद् में दी हुई शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करके जीवनमुक्त हो जाता है तब उसका आत्मा इस शरीर से किस प्रकार निकलता है यह बताया जाता है–

हृदय से निकलकर जो १०१ नाड़ियाँ समस्त शरीर में फैलती हैं उनमें से एक सुषुम्णा नाम वाली नाड़ी, जो शरीर में इडा और पिंगला के मध्य रहती है, मूर्धा में जा निकली है। मुक्त जीव का आत्मा इसी नाड़ी के द्वारा शरीर से निकल कर देवयान (मोक्षमार्ग) का पथिक बन जाता है और जो प्राणी ऐसे हैं कि उन्हें मुक्ति से भिन्न फल प्राप्त होने वाले हैं उनका जीव इस सुषुम्णा नाड़ी से नहीं निकलता किन्तु शरीर के दूसरे छिद्रों से निकल जाया करता है॥ १६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥१७॥

अर्थ–(अन्तरात्मा) शरीर के भीतर (पुरुषः) जीव (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (सदा) सदैव (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) प्रविष्ट है (तम्) उस का (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्) मुञ्ज से (ईषीकाम्) सींक की (इव) तरह (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से (प्रवृहेत्) निकाले (तम्) उस को (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने॥ १७॥

व्याख्या—मुक्त जीव के लिए यह शिक्षा दी गई है कि जीवात्मा को, जो सदैव अंगूठे की मात्रा वाले हृदयाकाश में रहा करता है, इस शरीर से जिस प्रकार मूंज की तीली (सींक) निकाली जाती है उसी प्रकार धैर्य के साथ इस शरीर से निकाले और उस जीव को पवित्र और अमर समझे क्योंकि यह कहा गया है कि यह उपदेश केवल मुक्त जीवों के लिए है। इसका कारण यह है कि केवल मुक्त जीव ही का अधिकार है जो अपने आत्मा को अधिकार के साथ शरीर से निकाल सके। अन्य गतियों को प्राप्त प्राणियों के जीव को सूक्ष्म शरीर के बन्धन में होकर उसी के साथ निकलना पड़ता है। अस्तु उपनिषद् वाक्य के अन्तिम वाक्य का दुबारा पाठ ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है ।। १७ ।।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेताऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।। १८ ।।

अर्थ—(अथ) यह (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां) इस (विद्याम्) विद्या को (च) और (कृत्स्नम्) समस्त (योगविधिम्) योगविधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेतः) नचिकेता (ब्रह्म प्राप्त) ब्रह्म को प्राप्त हुआ और (विरजः) निर्मल (विमृत्युः) मृत्यु भय से रहित (अभूत्) हुआ। (अन्यः) अन्य (अपि) भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) आत्मा सम्बन्धी विद्या को (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है (मुक्त हो जाता है) ।। १८ ।।

व्याख्या—उपनिषद् को समाप्त करने के बाद फलश्रुति के तौर पर उपनिषद्कार लिखते हैं कि यम के उपदेश को नचिकेता ने ग्रहण कर और उसके अनुकूल आचरण कर पाप रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त किया। अन्य नर-नारी भी जो इस उपदेश के अनुकूल आचरण करेंगे ब्रह्म को प्राप्त कर सकेंगे ।। १८ ।।

।। षष्ठी वल्ली तथा ग्रन्थ समाप्ता ।।